आमुख

हिंदी साहित्य के अनेक इतिहास लिखे गए। उनमें से कुछ प्रसार और परिष्कार में इतने बड़े हुए हैं कि सामान्य छात्रों के लिये उनका समझना और उन्हें हृदयंगम करना कठिन हो गया है। दूसरे इतने अधिक सामान्य हैं कि उनके पारायण से छात्रों को विषय का पर्याप्त बोध नहीं हो पाता। प्रस्तुत इतिहास के लिखने में इन दोनों बातों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

इतिहास के कालविभाग में हमने पंडित रामचन्द्र शुक्ल तथा डा. सूर्यकान्त का अनुसरण किया है और श्रीचतुरसेन शास्त्री के कालविभाग से किसी किसी अंश में सहमत होने पर भी हमने परंपरागत सरणि पर ही चलना उचित समझा है।

इतिहास में कबीर, तुलसी, सूर, तथा दूसरे अभिषिक्त कवियों पर मार्मिक प्रकाश डालने का यत्न किया गया है, और यह बताने की चेष्टा की गई है कि हिंदी का स्वर्णयुग सचमुच एक सोने का युग था और इसमें भारत की योगपरायण आत्मा स्फुट रूप से मुखरित हुई थी।

आधुनिक युग के कवियों और लेखकों में संभवतः कुछ का नाम-निर्देश न हो सका हो। इसका कारण जहाँ त्रुटि हो सकती है वहाँ हमारी यह धारणा भी हो सकती है कि इस प्रकार के कवि अथवा लेखक अभी उस कोटि को नहीं पहुँच सके हैं जो उन्हें इस प्रकार के इतिहास में स्थान दिलाने का अधिकारी बनाती है।

तुत इतिहास के लिखने में हमने पंडित रामचन्द्र शुक्ल के प्रौढ़ इतिहास से और डा. सूर्यकान्त की रूपरेखा से मनचाही सहायता ली है। दोनों धन्यवाद के भाजन हैं। यों तो इस तरंगिणी के बनाने में सभी इतिहासों का थोड़ा थोड़ा हाथ है, किंतु उक्त दोनों विद्वानों की रचनाओं को हमने अपना आदर्श मानकर इस तरंगिणी को साहित्य क्षेत्र में प्रकाशित किया है। आशा है छात्रवृन्द इसका अवगाहन करके आत्मिक प्रसाद का लाभ करेंगे।

—लेखक

विषय-सूची

कालविभाग 1

(१) पूर्वार्ध; सं० १०५०—१६००

अध्याय १—

आदियुग—वीरगाथाकाल-अपभ्रंश काव्य 7

अध्याय २—

आदियुग—वीरगाथाकाल-वीरगाथा काव्य 13

अध्याय ३—

आदिकाल—अपभ्रंशकाव्य, स्फुट रचनाएँ २५

अध्याय ४—

आदिकाल—योगधारा ३२

अध्याय ५—

मध्ययुग—भक्तिकाल, निर्गुणधारा; ज्ञानाश्रयी शाखा ३५

अध्याय ६—

मध्ययुग—प्रेममार्गी सूफी भक्तिशाखा ४६

अध्याय ७—

मध्ययुग—सगुणभक्तिधारा; रामभक्तिशाखा ५६

अध्याय ८—

मध्ययुग—सगुणभक्तिधारा; कृष्णभक्तिशाखा ६८

अध्याय ९—

मध्ययुग—अकबर के युग की स्फुट रचनाएँ ८८

अध्याय १०—

मध्ययुग—रीतिमार्गी कवि ६५

अध्याय ११—

मध्ययुग—रीतिकाल के अन्य कवि १२०

(२) उत्तरार्ध, सं० १९०० से अब तक

अध्याय १२—

नवीनयुग की झाँकी १३६

अध्याय १३—

आधुनिकयुग—व्रजभाषा काव्य १४३

अध्याय १४—

आधुनिक युग—खड़ी बोली पद्य; १५८

अध्याय १५—

आधुनिक युग—खड़ी बोली; छायावादी कवि १७४

अध्याय १६—

आधुनिक युग; गद्य का विकास १९८

हिन्दी साहित्य तरंगिणी

कालविभाग

किसी देश या जाति के जीवन में अनिवार्य रूप से होनेवाले परिवर्तनों के साथ उसके साहित्य में भी परिवर्तन होना अवश्यंभावी है। हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरांत भारत का इतिहास पारस्परिक विद्वेष तथा कलह का इतिहास है। उसकी मृत्यु के साथ हिन्दुओं का अंतिम साम्राज्य नष्ट हो गया और देश में मांडलिक राज्यों की स्थापना हो गई।

संवत् ६६३ में सब से पहले मुसलमान इस देश में आये और शनैः शनैः यहां की भव्य विभूतियों से आकृष्ट हो उन्होंने अपने आक्रमणों को नियमित तथा दृढ़ बना इस देश पर अधिकार कर लिया। मांडलिक राज्यों में बिखरे हुए राजपूतों ने मुसलमानों से लोहा लिया; किन्तु अपने संकुचित दृष्टिकोण तथा पारस्परिक विद्वेष के कारण वे संघटित रूप में शत्रुओं का सामना न कर सके।

अभी तक भारत में एशिया की दो जातियों का बलाबल था। हिंदू और मुसलमान आपस में लड़ते थे; किन्तु दोनों का घर यहीं था; दोनों भारत की समृद्धि में संलग्न थे। अठारहवीं सदी में व्यापार के लिये यूरोप से आने वाले कूटनीतिज्ञ अङ्गरेजों का देश में जमाव हुआ। उनके यहाँ प्रतिष्ठित हो जाने पर आपस में झगड़ने वाली दो जातियों का नहीं, अपितु एक दूसरी से सुतरां भिन्न और विपरीतगामिनी दो सभ्यताओं का संघर्ष हुआ। यह संघर्ष अब तक चल रहा है।

देश में होने वाले इन प्रबल परिवर्तनों के तारतम्य के साथ हमें इन परिवर्तनों के वाचात्मक व्याख्यानरूप हिन्दी साहित्य में भी परिवर्तन का तारतम्य स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसे हम तीन भागों में बाँट सकते हैं:—

१—आदियुग = वीरगाथाओं का युग; सम्वत् १०५० से १४०० तक

इस युग के साहित्य में मुसलमानों से लोहा लेने वाले तथा स्वयंवर आदि प्रथाओं के कारण आपस में युद्ध करने वाले राजपूतों के शौर्य-पराक्रम की उनके दरबारों में रहने वाले चारणों ने प्रशंसा की है; फलतः इस युग के साहित्य में वीरगाथाओं तथा अन्य प्रकार की वीरोल्लासिनी रचनाओं का प्राधान्य है। पारस्परिक विद्वेष का कारण मुख्यतः स्वयंवरों में वरी जाने वाली रमणियां होती थीं; इसलिये तत्कालीन कविता में शृङ्गार की मात्रा भी पर्याप्त है।

इसी युग में हिन्दी कविता की योगधारा भी अखण्ड रूप से बहती रही, जिसमें कलापक्ष के विकास पर ध्यान न दे योगी लोग आत्मतत्त्व पर अच्छी कविता करते रहे।

२—मध्ययुग; इसे हम दो भागों में बाँट सकते हैं:—

(अ) पूर्व मध्ययुग, अर्थात् भक्ति का युग; संवत् १४०० से १७०० तक।

इस युग में भारत के अधिकांश पर मुसलमानों की विजय-वैजयंती फहरा चुकी थी और असंघटित हिन्दू जाति पर उनका आतंक बैठ गया था। हिन्दुओं को इस समय जिस निराशा तथा निरुत्साह ने दबा लिया था उसकी प्रतिक्रिया वैष्णव आंदोलन के उस रूप में हुई, जिसने देश के कोने कोने में भगवान् की लोकरंजनी तथा लोकरक्षिणी सगुण शक्ति के महत्त्व का प्रसार कर हिन्दू जाति को एक बार फिर से अनुप्राणित किया। इस आंदोलन से [illegible] हुई काव्य-धारा :—

निर्गुण धारा (=कबीर आदि); और सगुण धारा (=तुलसी आदि) नाम की दो [illegible]ओं से प्रवाहित होकर चार शाखाओं में विभक्त हो जाती है :—

१—निर्गुण धारा

(अ) ज्ञानाश्रयी शाखा (आ) प्रेममार्गी सूफी शाखा

२—सगुणधारा

(इ) रामभक्ति शाखा (ई) कृष्णभक्ति शाखा

भक्तियुग में भी वीरता, शृङ्गार तथा अलंकारों की कविता बनती रही; किन्तु उस पर जनता का ध्यान न गया और वह गौण रूप में अपना विकास करती रही।

(आ) उत्तर मध्ययुग, अर्थात् रीतिग्रंथों का युग; सम्वत् १७०० से १६०० तक।

लोकपक्ष और अध्यात्मपक्ष की दृष्टि से कविता में जो कुछ कहा जा सकता था कबीर, तुलसी और सूर कह चुके थे। भक्तभयहारी लोकरक्षक भगवान् की अमोघ शक्ति का पूर्ण चमत्कार रामचरितमानस जैसी प्रबंधात्मक रचनाओं में दिखाया जा चुका था। रीतिकाल के कवियों ने इसी भक्ति को शृङ्गार का रूप दे उसका आलंकारिक वर्णन किया और प्रबंधात्मक काव्य के स्थान में मुक्तक छन्दों की उद्भावना की। मुग़ल साम्राज्य के वैभवशाली तथा विलासमय दरबारों में रहने के कारण इन्हों ने हिन्दी कविता का भव्य धारा को कल्याणमार्ग से हटाकर उसे विषय-वासना की चमचमाती नालियों में प्रवाहित किया। यद्यपि रीतिकाल में भी शुद्ध प्रेम का चित्रण करने वाले रसखान, घनानन्द तथा ठाकुर आदि कवि हुए और साथ ही भूषण आदि वीर कवियों का उदय भी तभी हुआ, तथापि इस काल के प्रतिनिधि कवि देव, बिहारी तथा पद्माकर आदि ही कहलायेंगे। इनकी परम्परा बहुत दिनों तक चलती रही।

३—आधुनिक युग = नवीन विकास का युग, संवत् १६००से अबतक।

रीतिकाल के अन्त में भारतेंदु हरिश्चन्द्र के साहित्याकाश में उदित होते ही चारों ओर नवीन युग का व्यापक प्रकाश फैला। आपने रीति और शृङ्गार की परम्परागत प्रणाली को गौण बना हिन्दीभाषियों का

ध्यान देश, धर्म, जाति और साहित्य की सेवा में बँधाया और हिन्दी साहित्य को पद्य की संकीर्ण बटिया से हटा उसे गद्य के विस्तृत राजपथ पर प्रतिष्ठित किया। स्वातंत्र्य के इसी युग को हम नवीन अथवा आधुनिक युग के नाम से पुकारते हैं।

पूर्वार्ध

(१) आदियुग=वीरगाथाकाल; सम्वत् १०५०–१४००

(२ मध्ययुग=भक्तियुग+रीतियुग; १४००–१६००

अध्याय १

आदियुग : वीरगाथा काल

अपभ्रंश काव्य

हिन्दी का विकास क्रमशः प्राकृत और अपभ्रंश के अनंतर हुआ है। जिस प्रकार प्राकृत के युग में गाथा कहने से प्राकृत का बोध होता था, उसी प्रकार अपभ्रंश के युग में दूहा या दोहा कहने से अपभ्रंश का भान होता था। जिस प्रकार जनसाधारण की बोलचाल में प्राकृत के प्रवर्तित हो चुकने पर भी संस्कृत में, और अपभ्रंश के चल पड़ने पर प्राकृत में काव्य-रचना होती रही, उसी प्रकार बोलचाल में हिन्दी के प्रवर्तित होने के उपरान्त भी बहुत दिनों तक कवि लोग अपभ्रंश में काव्यरचना करते रहे।

किन्तु साहित्य के क्षेत्र में भी हिन्दी का विकास बारहवीं सदी के अंतिम अर्ध में होने वाले कवि चन्दबरदाई के समय से स्पष्ट हो जाता है। कवि चन्द के काव्य की हेमचन्द्र (११४५–१२२६) की अपभ्रंश रचनाओं के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र की रचना प्राचीन है और चन्द की अर्वाचीन। ग्यारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में वर्तमान वाक्पतिराज परमार मुञ्ज की रचना हिन्दी से बहुत कुछ मिलती है। इन की रचना साहित्यिक है, इसलिये उसमें कुछ ऐसे प्राकृत शब्दों का प्रयोग भी है, जो उस समय जनसाधारण में प्रचलित नहीं थे। यदि मुंज की कृति में से इस श्रेणी के शब्द निकाल दिये जायँ तो उनकी भाषा हिन्दी से मिल जाती है।

इस दशा में यह कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र के समय से पूर्व हिन्दी का साहित्यिक विकास आरम्भ हो गया था और चंद के समय तक

उसका रूप कुछ कुछ स्थिर हो चुका था। अतएव सम्वत् १०५० से लेकर सम्वत् १४०० तक, अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक हम हिन्दी का आदिकाल मानते हैं। आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के पहले डेढ़ सौ वर्षों में रचना का रूप अस्थिर था। धर्म, नीति, शृङ्गार, वीरता आदि सब विषयों की रचनाएँ दूहों में होती थीं। इस अनिश्चित साहित्यप्रगति के उपरांत जब से देश पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ होते हैं, तब से हिन्दी साहित्य एक विशेष रूप धारण करता है। राजाश्रित चारण जिस प्रकार नीति और शृङ्गार के दोहे दरबारों में सुना सामन्तों का मनोरञ्जन करते थे, उसी प्रकार वे अपने आश्रयदाता राजाओं के शौर्य-पराक्रम का वर्णन कर समय समय पर उनको प्रोत्साहन भी देते थे। साहित्य की यही प्रबन्धपरम्परा रासो के नाम से प्रवर्तित हुई और इसी के आधार पर इस काल को वीरगाथा काल कहा जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दी के साहित्यक्षेत्र में प्रतिष्ठित होने के उपरांत भी कवि लोग रूढ़ि के कारण अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी में कविता करते रहे। किसी रचना में अपभ्रंश की प्रचुरता अथवा न्यूनता का होना उसके रचने वाले कवि की रुचि तथा अपभ्रंश-पांडित्य पर निर्भर रहता था। किन्तु इस प्रकार की रचनाओं के साथ साथ देशी भाषा में भी साहित्यरचना प्रगति पाती रही। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय का हिन्दी काव्य दो धाराओं में विभक्त है:—

(१) अपभ्रंश काव्य (२) देशभाषा काव्य।

सरहपा सम्वत ८१७

ये ब्राह्मण थे। बौद्ध भिक्षु तथा प्रसिद्ध सिद्ध थे। आप ने 'सहजयान' संप्रदाय की स्थापना की थी।

अपभ्रंश काव्य अधिकतर 'दूहा' अर्थात् दोहा के रूप में विकसित

हुआ। अपभ्रंश अथवा प्राकृताभास हिन्दी के दोहों का सबसे प्राचीन रूप सरहपा के दोहों में मिलता है। उदाहरण के लिये:—

इअ दिअस णिसहि अहीणि मइ, निहू जासु णिमाण।
सो चित्त सिद्धी जोइणि, सहज संवरु जाण॥

शवरपा सम्वत् ८३७

आप क्षत्रियवंशी बौद्ध सिद्ध थे और वितुमशिला (भागलपुर) बिश्वविद्यालय के आचार्य थे। आपने अपभ्रंश में शून्यता दृष्टि, षड्ङ्ग-योग आदि अनेक रचनाएं की हैं। उदाहरण:—

ऊचा ऊचा पावत तहिं वसइ सबरी वाली।
मोरंगि पिच्छ परिहिण सबरी गीवत गुंजरिमाली॥
उमत शवरो पागल शवरो मा कर गुली गुहाड़ा।
तोहों रि णिअ धरिणी नामे सहज सुंदरी॥ इत्यादि॥

कविराज स्वयंभूदेव सम्वत् ८४७

आप उत्तम कवि थे। आपके रामायण और महाभारत ग्रंथ कवित्व की दृष्टि से भव्य संपन्न हुए हैं। उदाहरण:—

सइसत्ति दिदु मंदोयरिए, दिट्ठिए चल भउहालइ।
दूरहों जे समाहउ वच्छयले, णं णीलुप्पल मालइ॥

इनके पश्चात् भूसुकुपा (सम्वत्८५७), लुइपा (सम्वत् ८८७) तथा पुष्पदंत(सम्वत्१०१६) ने अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी में उत्तम रचना की (सम्वत् ९९०) में देवसेन हुए।

देवसेन; सं० ९९०

इन्होंने 'श्रावकाचार' नामक जैन ग्रन्थ की रचना की, जिसकी भाषा पहले कवियों की भाषा की अपेक्षा हिन्दी के कहीं अधिक समीप है उदाहरण के लिये:—

जे जिण सासण भाषियउ, सो मइ कहियउ सारु।
जो पाले सइ भाउ करि, सो तरि पावइ पारु॥

बौद्धों की महायान शाखा के योगमार्गी सहजिया संप्रदाय की पुरानी पुस्तकों में कृष्ण और सरोजवज्र के कुछ दोहे मिलते हैं, जो प्राकृताभास हिन्दी में लिखे गये हैं। उदाहरण के लिये :—

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहिं पवेस।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उवेस॥

हेमचन्द्र; सं० ११४५–१२२६

उक्त धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में भी प्राकृताभास हिंदी के उदाहरण मिलते हैं। गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह (११५०-११९९) के समय में जैनाचार्य हेमचन्द्र ने सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन नामक व्याकरण ग्रन्थ रचा था। उसमें से एक प्राकृताभास हिन्दी में लिखा हुआ दूहा नीचे दिया जाता है:—

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कंतु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु, जइ भग्गा घरु एंतु॥

अर्थात् हे बहिन ! भला हुआ, जो हमारा पति (रण में) मारा गया। यदि वह भागकर घर लौट आता तो मैं अपनी अवस्था को सखियों में लज्जित होती।

सोमप्रभु सूरि; सं० १२४१

जैन पंडित सोमप्रभु सूरि ने संवत् १२४१ में कुमारपाल प्रतिबोध नाम का एक संस्कृत प्राकृत काव्य लिखा था। इसमें भी बीच २ में अपभ्रंश अथवा प्राकृताभास हिन्दी के दूहे आए हैं।

जैनाचार्य मेरुतुंग, सं० १३६१

इन्होंने संवत् १३६१ में भोजप्रबन्ध की शैली पर प्रबन्धचिंतामणि नाम का एक संस्कृत ग्रंथ रचा था, जिसमें अनेक प्राचीन राजाओं के कथानक संगृहीत हैं। आख्यानों के बीच कहीं २ प्राकृताभास हिंदी के दूहे

भी उद्धृत हैं। इनमें से एक दोहा राजा भोज के चाचा मुंज का कहा हुआ नीचे दिया जाता है:—

जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ, मुणालवइ ! विघन न वेढइ कोइ॥

अर्थात् हे मृणालवती ! जो मति पीछे सम्पन्न होती है, वह यदि पहले हो तो मुंज कहता है, कोई विघ्न न सतावे।

शार्ङ्गधर, १४ वीं शताब्दी

शार्ङ्गधरपद्धति के रचयिता, वैद्यराज शार्ङ्गधर अच्छे कवि और सूत्रकार भी थे। शार्ङ्गधरपद्धति में जगह जगह देश भाषा के वाक्य आये हैं। उदाहरण के लिये:—

नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्राणशब्दः खरः।
शत्रुं पाड़ि लुटालि तोडि हनिसौं एवं भणन्त्युद्भटाः॥
झूठे गर्वभरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे।
कंठे पाग निवेश जाइ शरणं श्री मल्लदेवं विभुम्॥

कहा जाता है कि इन्होंने हम्मीररासो नाम का एक वीरगाथा काव्य भी रचा था, जो आजकल उपलब्ध नहीं है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल को प्राकृतपिंगल में कुछ ऐसे दोहे मिले हैं, जिन्हें वे असली हम्मीररासो के बताते हैं।

विद्यापति, सं० १४६० में वर्तमान

विद्यापति ठाकुर की कीर्तिलता और कीर्तिपताका भी अपभ्रंश के अंतर्गत हैं। कीर्तिलता में तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह की वीरता, उदारता गुणग्राहकता आदि का वर्णन, बीच बीच में कतिपय देशभाषा-पद्य रखते हुए, अपभ्रंश के दोहा, चौपाई, छप्पय, छंद, गाथा आदि छंदों में किया गया है। विद्यापति का अपभ्रंश पूरबी अपभ्रंश है। इसमें क्रियाओं

आदि के बहुत से रूप पूरबी हैं। कीर्तिलता का उदाहरण:—

सव्वउँ नारि विअ्रष्खनी सव्वउँ सुस्थित लोक।
सिरि इमराहिमसाह गुणों नहिं चिंता नहिं शोक ॥

अपभ्रंश अथवा प्राकृताभास हिन्दी की रचना के उक्त उदाहरणों से स्पष्ट लक्षित होता है कि बोलचाल तथा साहित्यक्षेत्र में हिन्दी के प्रतिष्ठित हो जाने पर भी कवि लोग प्राकृत की सरणि पर चलते रहे और संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहिष्कार कर अपभ्रंश में कविता करते रहे। किन्तु ज्यों ज्यों काव्य-रचना में हिन्दी अपना स्थान करती गई त्यों त्यों संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी बढ़ता गया और अंत में प्राकृताभास हिन्दी का स्थान देशी भाषा ने पूर्णरूप से ले लिया।

अध्याय २

आदियुग : वीरगाथाकाल

वीरगाथा काव्य

जिस युग में हिन्दी अपभ्रंश को हटा साहित्य-क्षेत्र में अपना स्थान बना रही थी, वह युग घोर राजनीतिक विप्लव तथा अशांति का युग था। हर्ष-साम्राज्य के भिन्न भिन्न अंशों पर स्थापित होने वाले अनेक खंडराज्यों में तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य और चंदेल मुख्य थे; और ये क्रमशः दिल्ली, कन्नौज, अजमेर, धार तथा कालिंजर में अपनी राजधानियां प्रतिष्ठित कर चुके थे।

विप्लव और कोलाहल के इस युग मे भारत पर मुसलमानों ने आक्रमण किये और देश के पश्चिमीय प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर उन्होंने लाहौर, दिल्ली, मुलतान तथा अजमेर आदि पर भी अपनी विजयवैजयंती फहराई। महमूद गजनवी के आक्रमणों का यही युग था, और शहाबुद्दीन गौरी ने भी इन्हीं दिनों भारत पर अनेक छापे मारे। वीर राजपूतों ने एकत्र करके इनसे लोहा लिया, किन्तु शत्रुओं की नवोत्साहपूर्ण संघटित शक्ति के सामने इनकी अंतःकलह से शीर्ण हुई असंघटित शक्ति न ठहर सकी। और अंत में इन्हें विजयिनी मुसलिम तलवार के सामने सिर झुकाना पड़ा।

राजनीतिक उलट-फेर के उस युग में भारत के क्षत्रियवर्ग की सामाजिक दशा भी अनोखी थी। इनकी दृष्टि में इनके खंडराज्यों के अतिरिक्त राष्ट्र की कोई सत्ता ही न थी और इनके राज्य में रहने वाले क्षत्रियों के अतिरिक्त बाहर के सब क्षत्रिय ओछे तथा कायर थे। विवाह की प्रथा भी इनके यहाँ निराली थी। इस कार्य के लिये स्वयंवर रचे जाते थे और उनमें

निमंत्रित हुए राजाओं को अपने बाहुबल का परिचय देना होता था। जिस भाग्यवान् को कन्या जयमाल पहनाती थी। अन्य निमंत्रित राजागण उसके शत्रु बन जाते थे और परिणयमंडप में ही तलवारें बज जाती थीं। पिता की भलाई इसी बात में होती थी कि वह भी पुत्री के मनोनीत वर के विरुद्ध खड्ग खींच ले और उसके शत्रुओं का साथ दे। जयचंद की लड़की संयोगिता और पृथ्वीराज के संबंध में ऐसा ही हुआ था। इस दशा में वरपक्ष तथा उसके विरोधी पक्ष वाले क्षत्रियवर्ग सदा के लिये एक दूसरे के शत्रु बन जाते थे, और जिस प्रकार भी हो, एक दूसरे का सर्वनाश करके ही साँस लेते थे।

स्वयंवरों तथा उनसे पैदा होने वाले कलहों से बचा हुआ समय मृगया और मनोविनोद में व्यतीत होता था और इन सब कामों में राजाओं को प्रोत्साहित तथा संबद्ध करने के लिये उनके चारण सदा उनके साथ चलते थे, जो उन्हें उत्साह देकर ही बस न करते थे, अपितु अवसर पड़ने पर स्वयं भी तलवार खींच लेते थे।

जब आदर्शविहीन वीरता मूढ़ बनकर खड्ग बहाने में मतवाली हो जाती है और अपनी इस विनाशोन्मुख प्रवृत्ति की प्रशंसा सुन, सुनाने वालों को पुरस्कार देने लगती है, तब गायकों के हृदय में लोकसंग्रहिणी व्यापक मधुर भावनाओं का संचरित होना असंभव होता है और वे येन केन प्रकारेण मदोन्मत्त सामंतों की प्रशंसा कर उन्हें युद्ध के लिए कटिबद्ध करने में ही अपनी कला की इतिश्री समझने लगते हैं।

वीरगाथा काल की हिन्दी कविता में हम ठीक यही बात पाते हैं। इस समय की रचनाओं में क्षत्रियवर्ग को सुव्यवस्थित कर उसे यवनों के आक्रमण से देश की रक्षा करने में दत्तचित बनाने की प्रवृत्ति हम नहीं पाते। इसके विपरीत इनमें हमें आश्रयदाताओं के शौर्य-पराक्रम की प्रशंसा कर स्वार्थसाधन की आकांक्षा काम करती दृष्टिगत होती है।

इस कोटि की रचनाओं में ऐतिहासिक सामग्री का ढूंढना भी दुराशा-मात्र है। [illegible] अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्तियों में उनकी उत्पत्ति, वृद्धि

तथा उनके सामान्य चरित में, उपकरणरूप से पौराणिक देवों की सहायता उद्भावित की जाती हो, वहां मर्त्यजगत् की ऐतिहासिक घटनाएँ मिल भी कैसे सकती हैं। इन्हीं सब बातों को लेकर तत्कालीन हिन्दी साहित्य में वीरगाथाओं का उदय हुआ।

पारस्परिक कलह तथा कोलाहल के उस युग में यह स्वाभाविक था कि लंबे २ प्रबंधकाव्य न लिखे जाकर छोटे २ प्रशस्त्यात्मक गीत लिखे जायँ। समर के लिए बीरों को प्रोत्साहित करने और उसमें उनके विजली होने अथवा वीरगति प्राप्त करने पर उनकी प्रशस्तियां रचने में प्रबंधकाव्यों की अपेक्षा छोटे छोटे गीतों की उपयोगिता भी अधिक है। इसके अतिरिक्त साहित्य में पहले स्फुट गीतों की रचना होती है और पश्चात् सुव्यवस्थित प्रबंधकाव्यों की। इसके परिणामरूप हिंदी के तत्कालीन वीरगाथा काव्य को हम दो श्रेणियों में बांट सकते हैं:—

१ मुक्तक वीर गीत

(अ) बीसलदेवरासो; (आ] आल्हखंड

२ प्रबधकाव्य

[इ] खुमानरासो [ई] पृथ्वीराजरासो

प्रस्तुत प्रकरण में क्रमशः उक्त दोनों प्रकार की रचनाओं पर विचार किया जायगा।

बीसलदेवरासो, नरपति नल्ह, सं० १२१२

इस छोटे से गीतिकाव्य की रचना संवत् १२१२ में हुई थी। इसका रचयिता नरपति नल्ह नामक कवि अपने आश्रयदाता बीसलदेव का समकालीन उसका राजकवि था।

अजमेर के राजा विग्रहराज चतुर्थ (उपनाम बीसलदेव) बड़े योद्धा, पहुँचे पंडित और परिपक्व कवि थे। इन्होंने युद्ध में तुर्कों को परास्त किया था और परिहारों से दिल्ली का राज्य छीना था। इनके राज्य का विस्तार

हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक था। संवत् १२२० के, बीसलदेव के प्रसिद्ध लौहस्तंभ में लिखा है कि उन्होंने देश को मुसलमानों से रिक्त कर आर्यभूमि को फिर से आर्यों का देश बनाया था। बीसलदेव ने युद्ध और दिग्विजय के अतिरिक्त समाज और देश की उन्नति के लिए भी बहुत से प्रशंसनीय कार्य किये थे।

इनके दरबारी संस्कृत कवि सोमदेव ने अपने ललित विग्रहराज नामक नाटक में इनका चरितवर्णन किया है।

नरपति नल्ह ने बीसलदेव के शृंगारिक जीवन को चार खंडों में विभक्त किया है—

प्रथम खंड; ८५ छंद; बीसलदेव का जैसलमेर के राजा भोज की कन्या राजमती से विवाह।

द्वितीय खण्ड; ८६ छन्द; उनका राजमती से रूठकर उड़ीसा को जाना और वहाँ एक वर्ष रहना।

तृतीय खण्ड; १०२ छन्द; राजमती का विरह-रोदन और बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना।

चतुर्थ खण्ड; ४२ छन्द; भोज का अपनी पुत्री को घर लिवा ले जाना और बीसलदेव का वहाँ जाकर राजमती को फिर चित्तौड़ लाना।

कहने की आवश्यकता नहीं कि नरपति नल्ह द्वारा वर्णित उक्त वृत्तांत में ऐतिहासिक अंश बहुत कम है, और इसमें कतिपय बातें ऐसी भी हैं जिनसे यह संदेह उत्पन्न हो जाता है कि नल्ह का कथानायक कोई दूसरा बीसलदेव तो नहीं है।

साहित्यिक दृष्टि से इस ग्रंथ का कुछ भी महत्व नहीं है। इसकी वर्णन शैली भग्न तथा दूषित है। सारा ग्रंथ एक ही प्रकार के वर्णनों से भरा पड़ा है। कहीं २ तो वही छंद ज्यों के त्यों रख दिये गये हैं। इसके छंद शिथिल हैं और अलंकार तथा ललितपदावली का इसमें अभाव है। हाँ, दो

एक जगह राजमती के विरह-वर्णन में अवश्य कुछ २ यथार्थ कवित्व की झलक आ गई है।

बीसलदेवरासो की भाषा में अपभ्रंश और पुरानी हिंदी, दोनों ही के लक्षण दीख पड़ते हैं। हिंदी का प्रधान लक्षण भाषा की वियोगात्मक अवस्था इसमें पूर्णरूप से विकसित नहीं हो पाई है। इसमें संयोगात्मक अवस्था—अर्थात् प्रथमा में वानराँ, ऊटाँ, तृतीय में इंद्रणी [इंद्रेण) षष्ठी में घरह इत्यादि—और वियोगात्मक अवस्था—अर्थात् शब्दों के मौलिक रूप को बिगाड़े बिना ही को, ने, का, के, की, से, में इत्यादि के द्वारा कारक बोधन की प्रणाली—दोनों मिलती हैं। भेद केवल इतना है कि हिंदी के 'ने' की जगह 'नी' या 'नइ', में की जगह मँह, महि, माँह आदि प्राचीन रूपों का प्रयोग है।

बीच बीच में महल, इनाम, नेजा, ताजनो आदि फारसी के शब्द भी मिलते है।

गीतिकाव्य के रूप में चारणों की मंडली तक परिसीमित रहने के कारण इसकी भाषा और आकार-प्रकार में परिवर्तन होना अवश्यंभावी था। नरह की रचना का उदाहरण—

दीठउ आनसागर समंद तणी वहार। हंस-गवणी मृग-लोचणी नारि ॥
एक भरइ बीजी कलिख करइ। तीजी धरी पीवजे ठंडा नीर ॥
चौथी घन सगर जूं घूलई। ईसो हो समंद अजमेर को वीर ॥
हुवउ पइसारोउ वीसलराव। आली सयल अँतेवरी राव ॥
रूप अपूरव पेषीयइ। इसी अस्थी नहिं सयल संसार ॥
ईसीय न देवल-पुत्तली। जइ घरि आवी भोज कुँवा[illegible]

इस शृंगारमय प्रेमकथानक को वीरगीत मानने में संकोच होता है किंतु उस युग की वीरता का मुख्य उद्गम ही रमणियों के प्रेम से तथा उससे उत्पन्न होने वाले पारस्परिक कलह में हुआ था। फलतः प्रस्तुत

रचना के मध्य संयोग-वियोगात्मक शृंगार का आ जाना कोई दोषावह या आश्चर्य की बात नहीं है।

आल्हखंड; जगनिक सं० १२३०

अनुमान किया जाता है कि आल्हखंड, अपने मौलिक रूप में, महोबे (कालिंजर, बाँदा) के चंदेल शासक परमाल के दरबार में रहने वाले महाकवि जगनिक की कृति है। परमाल, पृथ्वीराज का समकालिक और कन्नौज के अधिपति जयचंद का सखा तथा सामंत था।

इस रचना में प्रधानतः आल्हा और ऊदल नामक वीर क्षत्रियों तथा साधारणतः लाखन, सुलखे आदि उनके भाइयों और कुटुम्बियों के अनेक विवाहों और उनसे छिड़ने वाली बावन के लगभग लड़ाइयों का ओजस्वी वर्णन है। आल्हा और ऊदल बनाफर-शाखीय क्षत्रियों के वंशज थे और महोबे के तात्कालिक चंदेल राजा परमाल के सामंत थे। इन भाइयों का आतंक छोटे मोटे मांडलिक राजाओं पर तो था ही, कन्नौज जैसे विस्तृत साम्राज्य का अधिपति जयचंद भी इनका लोहा मानता था। इन भाइयों ने अनेक युद्ध किये और मनचाही कन्याएँ वरीं। पर दिन बदलते हैं। अन्त में महोबा का पतन होता है, और सब वीर, पृथ्वीराज की बेला नामक पुत्री के कारण उसके साथ होने वाले लोमहर्षण संग्राम में मारे जाते हैं; उनकी रानियाँ सती हो जाती हैं और बचे हुए दो व्यक्ति, आल्हा और उसका पुत्र इंदल, घर छोड़ किसी कजरीवन में चले जाते हैं।

अनुसंधान की वर्तमान अवस्था में इस कथा का विशेष ऐतिहासिक महत्व नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कथा के बहुत से पात्र ऐतिहासिक हैं, किंतु उनके साथ ही इसके बहुसंख्यक पात्र ऐसे हैं, जिनका उल्लेख आज कल प्राप्त होने वाले प्रामाणिक इतिहासों में नहीं है।

साहित्यिक दृष्टि से आल्हा महत्व की रचना है। इसका चरित्रचित्रण अत्यंत सजीव संपन्न हुआ है। दोनों भाई आल्हा और ऊदल बड़े वीर, उत्साही, निर्भीक और उच्च विचारों के हैं। जहां ऊदल अत्यंत भावुक,

स्त्रियों के पाश में फँस दुःख भोगने वाला, क्षण भर की मैत्री से प्रेमपाश में फँस, बिना ऊँच नीच देखे बड़ी से बड़ी बात का दाव लगाने वाला और मरकर भी अपनी आन को रखने वाला है, वहाँ आल्हा इन सब दुर्बलताओं से दूर है और पर्वत की भाँति विपत्तियों की आँधी में दृढ़ता के साथ ठहरने वाला है।

स्त्री पात्रों में भी मल्हना और आल्हा की माता देवी का चरित्र वैसी ही कुशलता के साथ चित्रित किया गया है। देवी को हम एक आदर्श वीर पत्नी और उससे भी अधिक एक आदर्श वीरमाता के रूप में चित्रित हुई पाते हैं।

महोबा को रेणुसात् करने वाले बनाफर युद्ध में आल्हा और ऊदल हमारे सामने स्वयं शिव जी का रूप धारण करके आते हैं और वहाँ उनका रणतांडव देखते ही बनता है। सारे काव्य में ओज और दर्प की प्रचंड प्रवाहिनी अकड़ती और बल खाती दीख पड़ती है, जिसके भग्न तटों पर बनाफर भाइयों की प्रणयिनियाँ हाथ में जयमाला लिये खड़ी दृष्टिगत होती हैं।

जगनिक ने इन संघर्षमय दृश्यों का वर्णन घरेलू भाषा में किया था। फलतः उसकी रचना, उसमें होने वाले परिवर्तनों के साथ, उत्तरापथ के गांव गांव में घर कर गई है। गांवों में जाकर देखिए तो मेघगर्जन के बीच में किसी अल्हैत के ढोल के गंभीर घोष के साथ यह वीर हुंकार सुनाई देगी :—

> बारह बरिस लै कूकर जीएं, और तेरह लै जिएं सियार।
> बरिस अठारह छत्री जीएं; आगे जीवन के धिक्कार॥

आल्हखंड जिस रूप में इस समय हमारे संमुख प्रस्तुत है, उस रूप में भाषाविज्ञान की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं है। यह प्रत्यक्ष है कि इसकी वर्तमान भाषा बारहवीं सदी की भाषा नहीं, अपितु एक प्रकार से आधुनिक कन्नौजी बोली के रूप में ढल गई है। फलतः भाषातत्त्व

की दृष्टि से उसका जो मूल्य हो सकता था, वह अब नहीं रहा। बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो तथा उस काल की अन्य रचनाओं के मनन से हमें हिंदी के तत्कालीन परिवर्तनयुग में होने वाली विशेषताओं का भान होता है, किंतु आल्हखण्ड के पारायण से उस ध्येय की पूर्ति भी नहीं होती।

६०, ७० वर्ष पूर्व फ़र्रुखाबाद के कलक्टर महाशय चार्ल्स इलियट ने पहले-पहल इन गीतों का संग्रह करके इन्हें प्रकाशित कराया था।

आल्हखंड के उदाहरण:—

दगी सलामी दोनों दल में। धुँअना रह्यो सरग मँडराय।
तोपें छूटीं दोनों दल में। रण में होन लगो घमसान॥
अररर अररर गोला छूटै। कड़कड़ करैं अगिनियां वान।
रिमझिम रिमझिम गोला बरसैं। सननन परी तीर की मार॥
तीर कमनिया जो मुलतानी। कारी नागिनि सी सन्नाय।
जैसे सांप बँबी में जावै। त्यों ज्वानन के तीर सन्नाय॥
गोला लागे जौन ऊंट के। दल में गिरे चकत्ता खाय।
गोला लागे जिन घोड़न के। चारों सुम्म गर्द ह्वइ जाय॥
गोला लागै जिन क्षत्रिन के। तिनकी त्वचा सुरग मंडराय।
वंब को गोला जिनके लागै। तिनके हाड़ मांस छुटि जाय॥

× × × ×

दोनों सेना एकमिल हो गईं। ना तिल परै धरनि में जाय।
ज्यों सावन में छुटै फुहारा। त्यों ही चलै रक्त की धार॥
परे दुशाला जो लोहू में। जनु नदी में परो सिवार।
पगिया डारी जे लोहू में। मानों ताल फूल उतराय॥
परी शिरोही हैं ज्वानन की। मानो नाग रहें सन्नाय।
घैहा डारे रण में लोटैं। जिनके प्याम प्यास रट लागि॥

खुमानरासो, दलपतिविजय ८७०--९००

हिंदी के प्रबंधात्मक वीरगाथा काव्यों में दलपतिविजय का खुमानरासो सब से प्राचीन बताया जाता है। शुक्ल जी के अनुसार इसमें चित्तौड़ के दूसरे खुम्माण (संवत् ८७०-९००) के युद्धों का वर्णन था। आज कल प्राप्त होने वाली खुमानरासो की प्रति अपूर्ण है और उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है।

समय के साथ साथ इसमें प्रक्षेप मिलते गये हैं; और इस समय यह निश्चय करना असंभव है कि इसका कितना और कौनसा अंश मौलिक है और कितना प्रक्षिप्त। इसमें महाराणा प्रताप का वर्णन होने से इतना निश्चित है कि इसे अपना वर्तमान रूप सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ था।

पृथ्वीराजरासो, चंदबरदाई सं० १२२५-१२४९

वीरगाथासंबन्धी प्रबंधकाव्यों में सब से अधिक प्रसिद्ध और महत्त्वशाली रचना चंदबरदाई कृत पृथ्वीराजरासो है।

चंद दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज (१२०५-१२४८) के सामंत तथा राजकवि थे। रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वपुरुषों का वासस्थान पंजाब में था और इनका जन्म लाहौर में हुआ था। चंद, महाराज पृथ्वीराज के राजकवि तो थे ही, साथ ही उनके सखा, सामंत और नर्मसचिव भी थे। युद्ध में, आखेट में, सभा में, यात्रा में सदा उनके साथ रहते थे। ये मंत्रतंत्र आदि में प्रवीण थे और व्याकरण, काव्य, छंद, ज्योतिष, पुराण तथा नाटक आदि के पारदर्शी थे। इन्हें जालंधरी देवी की सिद्धि भी बताई जाती है।

कहा जाता है कि ये और पृथ्वीराज एक ही दिन जन्मे और साथ ही मरे थे।

रासो में १००००० के लगभग छंद, ६९ समय (सर्ग या अध्याय) और २५०० के लगभग पृष्ठ हैं। यह प्रधानतया कवित्त, दूहा, तोमर, त्रोटक

गाहा और आर्या में लिखा गया है। कहते हैं कि इसका पूर्वार्ध चन्द ने रचा था और उत्तरार्ध उनके पुत्र जल्हण ने।

इस ग्रंथ में आबू के यज्ञकुंड से चार क्षत्रियकुलों की उत्पत्ति तथा चौहानों के अजमेर में राज्यस्थापन से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का विस्तृत वर्णन है। रासो के अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र तथा अर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की कन्या से हुआ था। अनंगपाल की दो कन्याएँ थीं—सुंदरी और कमला। सुंदरी का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल के साथ हुआ और इस संयोग से जयचंद राठौर की उत्पत्ति हुई। दूसरी कन्या कमला का विवाह अजमेर के चौहान सोमेश्वर के साथ हुआ, जिनके पुत्र पृथ्वीराज हुए। अनंगपाल ने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया, जिससे अजमेर और दिल्ली का राज एक हो गया। यह बात जयचंद को अखरी। उसने राजसूय यज्ञ करके सब राजाओं को उसमें निमंत्रित किया और यज्ञ के साथ ही अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंवर रचा। राजसूय यज्ञ में सब राजा आये। पर पृथ्वीराज नहीं आये। इस पर जयचंद ने चिढ़कर पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति द्वारपाल के रूप में द्वार पर रखवा दी।

संयोगिता का अनुराग पहले से ही पृथ्वीराज पर था; अतः जब वह जयमाल लेकर रंगभूमि में आई, तब उसने पृथ्वीराज की मूर्ति को ही जयमाल पहना दी। इस पर जयचंद ने क्रुद्ध हो उसे गंगा किनारे एक महल में भिजवा दिया। इधर पृथ्वीराज के सामंतों ने आकर यज्ञ विध्वंस किया। उधर पृथ्वीराज ने चुपचाप आकर संयोगिता से गांधर्व विवाह कर लिया, और अंतमें वे उसे हर ले गये। रास्ते में जयचंद की सेना से तुमुल संग्राम हुआ, पर संयोगिता को ले पृथ्वीराज सकुशल दिल्ली पहुँच गये और वहां उनका समय सुखोपभोग में बीतने लगा।

पृथ्वीराज के [illegible] से सामंत जयचंद के साथ युद्ध करने में खेत रहे थे और उसकी श[illegible]क्षीण हो गई थी। अच्छा अवसर पा शहाबुद्दीन ग़ोरी

चढ़ आया, पर हार गया और पकड़ा गया। पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया। उसने बार बार आक्रमण किये और अंत में पृथ्वीराज को हरा वह उसे ग़ज़नी ले गया। कुछ काल पश्चात् कवि चंद भी वहां जा पहुँचे। एक दिन चंद के संकेत पर पृथ्वीराज ने शब्दवेधी बाण चला ग़ोरी को मार दिया और फिर दोनों एक दूसरे को मार कर संसार से बिदा हुए।

रासो की ऐतिहासिकता :—

रासो में आए संवत ऐतिहासिक तथ्यों के अनुकूल नहीं हैं। इतिहास की दृष्टि से सोमेश्वर का तोमर राजा अनंगपाल की लड़की से विवाह होना, पृथ्वीराज का दिल्ली गोद जाना, राणा समरसिंह का पृथ्वीराज का समकालीन होना, आदि बातें असंगत हैं। चौहान आदि चार कुलों की उत्पत्ति भी ऐतिहासिक दृष्टि से असंगत है। रासो में दी हुई तिथियां तथा संवत् उस समय के शिलालेखों तथा दानपत्रों में आई तिथियों और संवतों से मेल नहीं खाते। इस प्रकार की बातों के आधार पर बहुत से विद्वान् कहते हैं कि रासो किसी एक समय में एक कवि द्वारा रचा गया काव्य नहीं है।

फिर भी इसमें संदेह नहीं कि इसमें बहुत प्राचीन काल से लेकर प्रायः आधुनिक काल तक की हिंदी में बने हुए छंद मिलते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि इसमें क्षेपक बहुत हैं। किंवदंती के आधार पर चंदबरदाई नाम के किसी कवि का पृथ्वीराज के दरबार में होना निश्चित सा है; और यह भी बहुत अधिक संभव है कि उसने अपने आश्रयदाता की गाथा विविध छंदों में लिखी हो। परंतु समयानुसार उस गाथा की भाषा तथा उसमें वर्णित विषयों में बहुत कुछ परिवर्तन होते रहे; इस कारण अब उसके प्रारंभिक मौलिक रूप का निर्धारण करना असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य है

पृथ्वीराजरासो वीरगाथा युग की सब से परिपक्व तथा उत्कृष्ट रचना है। उस काल का जितना विशद प्रतिबिंब इसमें दीख पड़ता है, उतना अन्य किसी काव्य में नहीं। भाषा का सौष्ठव तथा छंदों की विविधता भी

इसकी अनुपम है। यह सत्य है कि इसमें रामायण की भांति भावोंकी एकांत गहनता तथा रुचिर कल्पनाओं का प्रचुर उन्मेष नहीं है; किंतु इस ग्रंथ में वीर रस का परिपाक अत्यंत स्फुट है और उसके उद्दीपक शृंगार रस की विभावना बहुत ही भव्य तथा गहन संपन्न हुई है। स्थान स्थान पर आने वाले पौराणिक कथानक इसकी कविता को गंभीर बनाते हैं, और जगह जगह पर जड़ी हुई कोमल सूक्तियां इसकी रुचिरता को द्विगुणित करती हैं।

रासो का युद्ध-वर्णन प्रचंड तथा ओजस्वी है :—

धपी सेन सुरतान, मुट्ठि छुट्टि चावद्दिसि।
मनु कपाट उद्दर्‌यो, कूह फुट्टिय दिसि विद्दिसि॥
मार मार मुष किन्न, लिन्न चावंड उपारे।
परे सेन सुरतान, जाम इक्कह परिधारे॥
गलवत्थ धत्त गाढौ ग्रहौ, जानि सनेही भिटयौ।
चामंडराइ करिवर कहर, गौरी दलबल कुट्टयौ॥

उक्त पद्यों में चामुण्डराव के युद्ध का वर्णन है। 'सुलतान की सेना त्रस्त हो गई, चारों दिशाओं में मूठ छूट गई और चारों ओर चामुंडराव ने कुहराम मचा दिया। दिशा-विदिशाओं में ऐसी कूक पड़ी कि मानो (यम-) द्वार खुल गया। चामुण्डराव मुँह से 'मारो मारो' ललकारता था और शत्रुओं के मस्तकों को छाँटता जाता था। मिलते ही गलवस्त्र को ऐसा पकड़ता कि मानों कोई पुराना स्नेही मिला हो। चामुण्डरूपी हाथी ने गोरी की सेना में कहर मचा दी।'

उपर्युक्त पद्य से रासो की कर्कशता का आभासमात्र मिलता है उसकी कविता के मार्मिक विवेचन के लिये पिंगल पर आधिपत्य अपेक्षित है।

अध्याय ३

आदि काल

अपभ्रंशकाव्य—स्फुट रचनाएँ

वीरगाथा काल के समस्त काव्य पिंगल और डिंगल नामक दो प्रकार की हिन्दी में लिखे गये थे। देश-भेद के कारण जिस प्रकार प्राकृत के शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि तथा अपभ्रंश के नागर, उपनागर, व्राचड आदि अनेक विभेद हो गये थे, उसी प्रकार प्रारम्भिक हिन्दी भी किसी एक रूप में नहीं रही होगी। परन्तु साहित्य-ग्रंथों की अधिकता आदि के कारण जिस प्रकार प्राकृतों में महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंशों में नागर अपभ्रंश को प्रधानता मिली थी और वैयाकरणों ने उन्हीं का मुख्यतः उल्लेख करके शेष के सम्बन्ध में बहुत साधारण विवेचन किया था, उसी प्रकार हिन्दी के भी एक सामान्य साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा हो गई और साहित्य-ग्रंथों की प्रचुरता होने के कारण उसी की प्रधानता मान ली गई और उसमें व्याकरण आदि का नियमित निरूपण भी हो गया। हिन्दी के उस साहित्यिक रूप को उस काल में पिंगल कहते थे और अन्य रूपों की संज्ञा डिंगल थी। पिंगल भाषा में अधिकतर वे विद्वान् रचना करते थे, जो अपने ग्रंथों में सँयत भाषा तथा व्याकरणसंमत प्रयोगों के निर्वाह में समर्थ होते थे। पिंगल की रचनाओं में धीरे-धीरे साहित्यिकता बढ़ने लगी और नियमों के बंधन भी जटिल होने लगे। इसके विपरीत डिंगल भाषा का प्रयोग करने वाले राजपूताने के आस पास के भट्ट, चारण, आदि थे, जिन्हें न तो भाषा के शुद्ध रूप का ज्ञान था और न उसका प्रयोग करने की आवश्यकता ही थी। पिङ्गल और डिङ्गल के इस भेद के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि चंद-

बरदाई का पृथ्वीराजरासो पिङ्गल भाषा में लिखा गया है और नल्ह का बीसलदेवरासो डिङ्गल की रचना है।

फलतः वीरगाथा काल की रचनाओं में हमें तत्कालीन बोलचाल की भाषा के दर्शन न हों, उस समय में प्रचलित रही साहित्यिक देशभाषाएँ दीख पड़ती हैं। किन्तु बोलचाल की भाषा का स्वतंत्र प्रवाह चलता रहा और कुछ लोगों ने उसको भी कविता में अपनाया। खुसरो में हम बोल-चाल की भाषा का पश्चिमी रूप देखते हैं और विद्यापति में पूर्वी।

खुसरो; सं० १३१२–१३८१

तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में, जब दिल्ली का राजसिंहासन गुलाम वंश के सुलतानों के आधीन हो रहा था, अमीर सैफुद्दीन नाम का एक सरदार बलख हजारा से मुग़लों के अत्याचार के कारण भागकर भारत आया और एटा के पटियाली नामक गांव में रहने लगा। उसके इज्जुद्दीन अलीशाह, हिसामुद्दीन अहमद और अबुलहसन नाम के तीन पुत्र हुए। इनमें से तीसरे का उपनाम खुसरो था। यह उपनाम इतना अधिक प्रसिद्ध हुआ कि असली नाम प्रायः लुप्त हो गया और अबुलहसन 'अमीर खुसरो' कहलाने लगे।

बारह वर्ष की अवस्था में ही खुसरो शेर और रूबाई कहलाने लगा था, जिन्हें सुनकर विद्वान् अवाक् रह जाते थे। उसने पाँच वर्ष तक सुलतान गयासुद्दीन बलबन के बड़े पुत्र मुहम्मद सुलतान की नौकरी की। १२८४ में पञ्जाब में होने वाले मुग़लों के युद्ध में मुहम्मद सुलतान मारे गए और खुसरो पकड़े गए। दो वर्ष के कारागार के पश्चात् यह पटियाली पहुँचे और अपने सम्बन्धियों से मिले।

इसके अनंतर खुसरो अमीर अली मीर जमादार के साथ दो वर्ष तक रहे। १२८८ में ये दिल्ली लौटे। १२६० में कैकुबाद के मारे जाने पर गुलाम वंश का अंत हो गया और सत्तर वर्ष की अवस्था में जलालुद्दीन खिलजी ने दिल्ली के तख्त पर अधिकार कर लिया। इसने खुसरो को सम्मानित किया।

सन् १२९६ में अपने चचा को मारकर अलाउद्दीन सुलतान हुआ और उसने खुसरो को 'खुसरुए शायरां' की उपाधि दी। सन् १३१७ में कुतुबुद्दीन मुबारकशाह सुलतान हुआ और उसने खुसरो को अनेक पुरस्कार दिये। सन् १३२० में उसके वज़ीर खुसरो खां ने उसे मार डाला और इसके साथ खिलजी वंश का भी अंत हो गया।

पञ्जाब से आकर गाजीखां ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और गयासुद्दीन तुगलक के नाम पर वह गद्दी पर बैठा। खुसरो ने इसके नाम पर अपनी अंतिम पुस्तक तुगलक नामा लिखी।

खुसरो ने अपनी आँखों गुलाम वंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान और पतन, तथा तुगलक वंश का आरम्भ देखा था। इनके जीवन-काल में दिल्ली के तख्त पर ग्यारह सुलतान बैठे थे, जिनमें से सात की इन्होंने सेवा की थी। ये बड़े प्रसन्नचित्त, मिलनसार और उदार कवि थे। इनमें धार्मिक कट्टरपन नाममात्र को भी न था।

खुसरो अरबी, फ़ारसी, तुर्की और हिन्दी भाषा के प्रकांड पण्डित थे। संस्कृत का भी उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। ये फारसी के प्रतिभाशाली कवि थे। इन्होंने कविता की ९९ पुस्तकें लिखी थीं, जिनमें से अब केवल बाईस प्राप्य हैं।

खुसरो की मसनवियों में कोरा इतिहास नहीं है। इतिहास की नीरस घटनाओं पर कवि ने अपनी कविता का रस निचोड़ दिया है। इन मसनवियों में किरानुलुसादैन मुख्य है। इसमें केकुबाद और उसके पिता बुग़राखाँ के युद्ध और सन्धि का मार्मिक वर्णन है।

मसनवी खिज्रनामा में अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्रखाँ और देवलदेवी के प्रेम का वर्णन है। खुसरो ने इस ग्रन्थ में भारत के फूलों, कपड़ों और सौंदर्य को रूम और रूस आदि के फूलों, कपड़ों और सौन्दर्य से बढ़कर बताया है और अन्त में लिखा है कि "यह देश स्वर्ग है; नहीं तो हजरत आदम और मोर यहाँ क्यों आते।"

खुसरो ने अधिकांश कविता फारसी में ही की; पर नव-प्रतिष्ठित मुस्लिम राज्य के शासकों को देशभाषा से परिचित कराने के लिये उन्होंने खालिकबारी नामक एक पद्यात्मक कोश-ग्रन्थ की रचना की, जिस में फारसी शब्दों के हिन्दी अर्थ बतलाये गये थे और दिल्ली के आसपास की उस प्रचलित भाषा में अपनी पहेलियाँ भी लिखी थीं, जो आजकल की खड़ी बोली की जननी या पूर्वरूप कही जा सकती है। खुसरो ने कुछ रचनाओं में फारसी और खड़ी बोली का संमिश्रण भी किया था, पर उन में से अब केवल दो-एक पद्य प्राप्त हैं। उनके इस कार्य में हम मुसलमानों और हिन्दुओं में भाषासम्बन्धी एकता स्थापित करने के उद्योग की झलक पाते हैं, जो उद्योग आगे चलकर कबीर तथा जायसी आदि कवियों की गम्भीर कृतियों में सफल होकर हमारे सामने आता है।

खुसरो के हृदय में हिन्दी के प्रति असीम श्रद्धा थी। इस विषय में उसके यह उद्गार ध्यान देने योग्य हैं:—

"मैं भूल में था, पर अच्छी तरह सोचने पर हिन्दी भाषा फारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। सिवाय अरबी के, जो सब भाषाओं की मीर और सबों में मुख्य है, रई और रूम की प्रचलित भाषाएँ, देखने पर हिन्दी से कम मालूम हुईं। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फारसी में यह एक कमी है। वह बिना मेल के काम में आने योग्य नहीं है। हिन्दी भाषा भी अरबी के समान है; क्योंकि उसमें भी मिलावट को स्थान नहीं है।"

इससे प्रतीत होता है कि उस समय हिन्दी में फारसी के शब्दों का संमिश्रण नहीं था और यदि था भी तो नाममात्र के लिए। खुसरो द्वारा प्रयुक्त खड़ी बोली के विशुद्ध भारतीय स्वरूप में अरब और फारस के शब्दों की धकापेल करके, आज कल के, कृत्रिम उर्दू बोलने वाले जब आधुनिक हिन्दी, अर्थात् खड़ी बोली को, उर्दू से उत्पन्न हुई बतलाते हैं, तब उनके इस भ्रम को दूर करने के लिये हमारे पास खुसरो की कविता ही एकमात्र अचूक साधन ठहरती है।

निम्नलिखित कविताओं में खुसरो की सूझ का आभास मिलता है :—

एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिंजरे में दिया।
जों जों साँप ताल को खाए। सूखे ताल, साँप मर जाए॥
(दीया बत्ती)

एक थाल मोती से भरा। सब के सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाल फिरै। मोती उससे एक न गिरै॥
(आकाश)

आवे तो अँधेरी आवे, जावे तो सब सुख ले जावे।
क्या जानूं वह कैसा है, जैसा देखो वैसा है॥
(आँख)

सर पर जटा गले में झोली, किसी गुरु का चेला है।
भर भर झोली घर को धावें, उसका नाम पहेला है॥
(भुट्टा)

एक पुरुख औ नौ लख नारी। सेज चढ़ीं वह तिरिया सारी।
जले पुरुख देखे संसार। इन तिरियों का यही सिंगार॥
(हाँडी)

अगिन कुण्ड में घिर गया, जल में किया निकास।
परदे परदे आवता, अपने पिय के पास॥
(हुक्के का धूँआ)

उक्त पद्यों में खड़ी बोली का निखरा रूप मिलता है। निम्न पद्यों में ब्रज भाषा का मेल है :—

चूक भई कुछ वासों ऐसी। देश छोड़ भयो परदेशी॥

× × × × ×

एक बार पिया को मानी। तन वाको सगरा ज्यों पानी ॥
चाम मास वाके नहिं नेक। हाड़ हाड़ में वाके छेद ॥
मोहि अचम्भो आवत ऐसे। वामें जीव बसत है कैसे ॥

नीचे के दोहों में व्रजभाषा का रूप ध्यान देने योग्य है :—

उज्ज्वल बरन, अधीन तन, एक चित्त दो ध्यान।
देखत में तो साधु है, निपट पाप की खान ॥
खुसरो रैन सोहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोऊ भए एक रंग ॥
गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुं देस ॥

विद्यापति; सं० १४०७–१४६०

जिस प्रकार खुसरो की रचना में बोलचाल की हिन्दी का पश्चिमीय रूप प्रतिफलित है, उसी प्रकार विद्यापति की कविता में बोलचाल की हिन्दी का पूरबी रूप दीख पड़ता है।

विद्यापति जाति के मैथिल ब्राह्मण थे, और इनका जन्म सम्वत १४०७ में तिरहुत के किसी गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम गणपति ठाकुर था। संवत् १४६० में ये तिरहूत के राजा शिवसिंह के दरबार में थे। इन्होंने कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका नाम की दो पुस्तकें अपभ्रंश में लिखी थीं। इनके अतिरिक्त इन्होंने अपने देश की मैथिल भाषा में बड़े सुन्दर पद रचे हैं, जिनमें कृष्ण और राधा के प्रेम का शृङ्गारिक वर्णन है।

बंगाली लोग इनकी भाषा को बंगला में सम्मिलित करते हैं और हिन्दी-भाषा-भाषी हिन्दी में। यद्यपि बिहारी होने के कारण इनकी भाषा में बंगलापन पर्याप्त है तथापि शब्दावली इनकी प्रायः हिन्दी की है।

इनके पदों का उदाहरण :—

सखि कि पुछसि अनुभव मोय ?
से हो पिरित अनुराग बखानइत तिल तिल नूतन होइ ॥
जनम अवधि हम रूप निहारव नयन न तिरपित भेल ।
से हो मधुर बोल स्रवनहिं सुनल स्रुति पथ परस न भेल ॥
कत मधु जामिनि रभस से गयाओल न बुझल कइसन केल ।
लाख लाख जुग हिअ हिअ राखल तइओ हिय जुड़न न गेल ॥
कत विदगध जन रस अनुमोदई अनुभव काहु न पेख ।
विद्यापति कह प्राण जुड़ाइत लाख वे न मिलल एक ॥

अध्याय ४

आदिकाल—योगधारा

वीरगाथाओं की मुखर कल्लोलिनी के साथ साथ हिन्दी साहित्य क्षेत्र में आध्यात्मिक काव्यों की प्रशांत मूक सरिता भी निभृत रूप से बहती रही। विधर्मियों की आक्रमणवात्याओं के प्रचण्ड झपेटों में भी भारत का आध्यात्मिक वट अक्षत खड़ा रहा और यहां की भावप्रवण जनता को सांत्वना देता रहा। विद्रोह और विप्लव के उस अनर्थकारी युग में भी भारतीय योगियों के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि अखण्डरूप से चलते रहे। ये लोग अरण्यों में बैठ बाह्य जगत् से आँख मोड़ आंतर जगत् की पूजा करते रहे। आत्मिक स्वातंत्र्य के सामने इन्हें भौतिक जगत् का स्वातंत्र्य तुच्छ दीख पड़ा और इन्होंने, योग से प्राप्त होने वाली अलौकिक सिद्धियों को रखते हुए भी विधर्मियों का मानमर्दन करना उचित न समझा।

योगियों के परम्परागत अनेक सम्प्रदायों में से वह सम्प्रदाय, जिसे गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने फैलाया, हठयोगियों का सम्प्रदाय कहलाता है। इस हठयोग के प्रवर्तकों ने आरम्भ से ही हिन्दी भाषा के तात्कालिक रूप को [illegible] सम्प्रदाय के प्रचार के लिये अपनाया; और इस का इनके शिष्य-प्रशिष्यों ने भी त्याग न किया। हिन्दी का आश्रय लेने के कारण इस सम्प्रदाय की जितनी व्यापक ख्याति हुई उतनी संस्कृत, पालि तथा प्राकृत आदि भाषाओं का सहारा लेकर खड़े होने वाले योग के अन्य सम्प्रदायों की नहीं हुई।

गोरखनाथ; ११वीं शताब्दी का मध्य भाग

गोरखनाथ, आसाम के रहने वाले गुरु मत्स्येन्द्रनाथ (मछुन्दरनाथ) के शिष्य थे और इन्होंने हिन्दी के द्वारा हठमार्ग के प्रसार का अनुष्ठान किया था। गोरख की कृतियों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं :—

सबदीपद, अभैयात्रा जोग, संख्यादर्शन, प्राणसङ्कली, आत्मबोध, मछींद्रगोरखबोध, जाती भौंरावली, गोरखगणेशसम्वाद, गोरखदत्तसम्वाद, सिद्धांतजोग, ज्ञानतिलक तथा कन्थड़बोध।

सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए देशदेशांतरों में पर्यटन करते रहने के कारण योगियों की कृतियों में भिन्न भिन्न उपभाषाओं के शब्द सम्मिलित हो गये हैं।

जालन्धर, कणेरी आदि

गुरु गोरख के समय में ही जालन्धरनाथ, कणेरीपाव, चौरङ्गीनाथ तथा सिद्ध घोड़ाचोली आदि ने भी योगकाव्य की रचना की थी। चौरङ्गीनाथ और घोड़ाचोली गोरख के गुरुभाई थे। जालन्धरनाथ मछुन्दर का गुरुभाई और कणेरी जालन्धर का शिष्य था।

चर्पट; १२८०—१३३०

इनका जीवनचरित अनिश्चित है। इनकी कविता में योग के मिस भोग करने वालों की तीव्र आलोचना है।

बालानाथ; १३वीं अथवा १४वीं सदी

आपने अपनी कविता में योगमार्ग में से पाखण्ड को निकालने का प्रयत्न किया है। बुढ़ापे में इन्द्रियों के शिथिल पड़ जाने पर योग साधने वालों का आपने उपहास किया है।

धूंधलीमल; १४४२ के लगभग

सिद्ध धूंधली और गरीबनाथ—ये गुरु चेले सम्वत् १४४२ के लगभग हुए थे।

पृथ्वीनाथ; १७वीं सदी

पृथ्वीनाथ जी उन योगियों में सब से पिछले हैं, जिनकी वाणी का साहित्य में ऊँचा स्थान है। इन्होंने कबीर के उपदेशों पर चलने का उपदेश दिया है, जिससे इनका कबीर से पीछे होना निश्चित है।

———

अध्याय ५

मध्ययुग

भक्तिकाल : निर्गुणधारा : ज्ञानाश्रयी शाखा

प्रसिद्ध वीर शिरोमणि हम्मीरदेव के पतन के साथ हिन्दी में वीर गाथाओं की रचना समाप्त हो गई। देश के अधिकांश पर विधर्मियों की दुंदुभी बजने लगी; उनकी विजयवैजयन्ती ने वीर क्षत्रियों को कायर बना दिया। अब हिन्दू राजा न तो आपस में भिड़ते थे और न शत्रुओं से लोहा लेते थे। वे हताश हो अपने२ मंडलों में बैठ गए और इसीके साथ उनके दरबारी कवियों ने उनकी प्रशंसा में वीर-गाथाएँ रचनी बन्द कर दीं।

यह सच है कि योगमार्गी कवि इस निराशा के अन्धकार में भी ध्यान धारणा आदि में लगे हुए हिन्दी के क्षेत्र को प्रकाशित करते रहे; किन्तु ये महात्मा प्रायः आरण्यक होते थे और इनकी कृतियाँ अरण्यों तक ही परिसीमित रहने के कारण नागरिक जनता को सांत्वना देने में असमर्थ रहीं।

ऐसी दशा में दूरदर्शी महात्माओं का ध्यान जीवन के उन अमर तत्वों की ओर गया, जो प्राचीन काल से भारत की संपत्ति थे, किन्तु जो हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरांत पारस्परिक कलह तथा विद्वेष की धुन्ध में छिप गए थे। आत्मिक जगत् के उन अमर तत्वों को हताश जनता के सम्मुख फिर से प्रस्तुत करके उनके हृदय में नवीन आशा और उत्साह का संचार करना ही भक्तियुग के कवियों की अमर उपलब्धि है।

आठवीं सदी में होने वाले स्वामी शंकराचार्य के मायावाद तथा अद्वैतवाद को इने-गिने चिंतनशील पंडित ही समझ सकते थे। उनके एकांत अद्वैतवाद से मनुष्य के हृदय में अनवरत उठने वाली कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति न होती थी; उसकी मूक प्रेमवृत्ति का विकास न होता था। इसी लिए बारहवीं सदी में दक्षिण में होने वाले स्वामी रामानुज ने अद्वैतवाद का खंडन कर भक्तिमार्ग का उद्धार किया। मध्वाचार्य, निंबार्काचार्य, चैतन्य, रामानन्द, वल्लभाचार्य और विठ्ठलनाथ जैसे महात्माओं ने अपने२ संशोधनों और परिवर्तनों के साथ भक्तिमार्ग का समर्थन किया और भक्ति की पावन मंदाकिनी विष्णु, गोपाल, कृष्ण, हरि, राम, बालकृष्ण आदि एक ही देव के विभिन्न प्रतीकों की विविध उपासनाओं के रूप में बहती हुई जनता के नैराश्य कर्दम को धोने लगी। भक्ति के इस व्यापक आंदोलन के साथ हिंदी का निकट तारतम्य है। रामानुज और माध्वाचार्य ने दक्षिण में अपनी वाणी सस्कृत में गाई थी, फलतः वह संस्कृत पढ़े-लिखे पंडितों तक ही परिसीमित रही और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव न पड़ा। महात्मा नामदेव महाराष्ट्र के निवासी थे; उनके गीत भी हिंदी में इने-गिने हैं। हिंदी में वैष्णव साहित्य के प्रथम कवि विद्यापति ठाकुर हुए, जिनकी रचना उत्कृष्ट कोटि की थी। किंतु इनकी भाषा भी विशुद्ध हिंदी न थी। परन्तु जब महात्मा रामानन्द ने भक्ति को लोकव्यापिनी बना, जाति-पाँति के भेदभाव को भगा, भगवान् जिन और बुद्ध की भांति परंपरागत संस्कृत-लेखन-सरणि का परित्याग कर अपने उपदेश जन-साधारण की मातृभाषा हिंदी में दिये, तब से हिन्दी साहित्य का भाग्योदय हुआ और उसके कलेवर तथा महत्व की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। भारतीय साहित्य में साम्यवाद की पताका फहराने वाले ये पहले कवि हुए, जिन्होंने सब प्रकार की परंपरागत रूढियों को नसा उत्तरापथ के आर्त जनसमुदाय को रामामृत की जीवन-सुधा दे फिर से कर्तव्यपथ पर प्रतिष्ठित किया।

महात्मा रामानन्द की शिष्यपरम्परा में एक ओर तो कबीर हुए, जिन्होंने निर्गुण परमात्मा के निरञ्जन रूप को ज्ञान के द्वारा प्राप्त करने का उपदेश दिया और दूसरी ओर भक्तवत्सल गोस्वामी तुलसीदास हुए, जिन्होंने जन-साधारण के लिए निरञ्जन ब्रह्म की प्राप्ति करना असम्भव समझ, श्रीराम के रूप में उसके सगुण रूप की महिमा गाई। इसी काल में भारतीय अद्वैतवाद तथा सूफी मंतव्यों के सङ्कलन रहस्यवादी प्रेम-मार्ग का सूत्रपात हुआ, जो कुतबन तथा जायसी आदि प्रेमगाथाकारों की, प्रस्तुत में अप्रस्तुत का उद्भावन करने वाली भावप्रवण कृतियों में परिपक्व हुआ। इन्हीं दिनों बल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ की प्रेरणा से कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ, जिसकी परिनिष्ठा भक्त-शिरोमणि सूरदास की दिव्यवाणी में हुई। इस प्रकार हमें तत्कालीन भक्ति की एक ही मन्दाकिनी कबीर आदि सन्त कवियों की ज्ञानाश्रयी निर्गुणोपासना, तुलसीदास की सगुण रामभक्ति, जायसी की सगुण-निर्गुण ब्रह्मनिष्ठा और सूरदास की सगुण कृष्णोपासना—इन चार धाराओं में विभक्त होकर प्रवाहित होती दृष्टिगत होती है।

प्रस्तुत अध्याय में ज्ञानाश्रयी संत कवियों की रचनाओं का वर्णन होगा।

कबीर; सं० १४५६—१५७५

कहा जाता है कि कबीर किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से जन्मे थे, जिसने इन्हें इनका जन्म होते ही तालाब में फेंक दिया था। अकस्मात् नीरू जुलाहे की इन पर दृष्टि पड़ी और वह उसे घर ले आया। यही बालक आगे चल कर साधु सन्तों की सङ्गत में बैठ और काशी के घाटों तथा तीर्थों में स्नान कर ज्ञानी कवि बना।

भावुक कबीर बचपन से ही रामानन्द का शिष्य बनना चाहता था किन्तु बहुत दिनों तक वह अपनी इस लालसा में असफल रहा। अन्त में उसने एक दिन प्रातः उनके चरण पकड़ लिये और वह उनका शिष्य बन गया।

कुछ लोग कहते हैं कि कबीर झाँसी के प्रसिद्ध पीर तकी का भी चेला था।

कबीर के जीवन के विषय में हमारा ज्ञान परिमित है। वे पढ़े लिखे कम थे, किन्तु गुने बहुत अधिक थे। वे कहते हैं—

मसि कागज छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिउ युग का महातम, कबिरा मुखहिं जनाई बात॥

अपढ़ कबीर ने साधु-सन्तों के मुंह भरपेट सुना और उसने काशी के पण्डितों के शास्त्रार्थों से भी लाभ उठाया। वह सूफी कवियों की परम्परा से परिचित था, किन्तु उसने कभी भी हिन्दुओं की और सूफियों की कोरी तपस्या में आस्था नहीं दिखाई। वह कहता है:—

केसन कहा बिगारिया, जो मूंडौ सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूंडिये, जा में विषय विकार॥

कबीर कर्म का जुलाहा था और उसने लोई नामक स्त्री से विवाह किया और सन्तान पाई। सद्गृहस्थ होने के कारण कबीर की वाणी में प्रणयी की तड़पन है और उसमें वे सभी भाव उभरे दीख पड़ते हैं जो एक सम्पति में होने वांछित हैं।

ज्ञानी कवि होने के नाते कबीर प्रकारवाद का शत्रु था। मन्दिर और मस्जिद दोनों ही से उसे चिढ़ थी। वह कहता है:—

जिन दुनिया में रची मजीद, झूठो रोजा झूठी ईद।
करता किरतिक बाजी लाई, हिन्दु तुरुक दुई राह चलाई॥

कबीर ने अनेक ग्रंथ रचे। इनमें ७५ अब भी प्राप्य हैं। मुख्य इन में बीजक और आदि ग्रंथ हैं। उसके सब ग्रंथों का एक ही विषय है। परमात्मा की वही भक्ति, प्रकारवाद की वही तीखी आलोचना, जातपात पर वे ही आक्षेप, मन्दिर मसजिद का वही भंडाफोड़, कबीर ने जिधर देखो उधर ही पाखंड-खंडन की धाक जमा दी थी। ऐसी खरी

आलोचना को कौन सह सकता है। निदान उसे सिकंदर लोदी की कचहरी में पेश किया गया। बादशाह ने कबीर को बनारस से निकाल दिया। इसके बाद कबीर हाथ में तंबूरा ले घर घर अलख जगाता फिरा।

वह कहता है—

कबीरा जंत्र न बाजई टूटि गए सब तार।
जंत्र विचारा क्या करै चला बजावन हार॥

इस यात्रा में कबीर को क्लेश हुआ, पापियों के बीच पुण्यात्मा पिस गया। वह कहता है:—

मारी मरै कुसंग की, केरा के ढिग बेर।
वह हालै वह अंग चिरै, विधि ने संग निवेर॥

संसार की चक्की में मानववर्ग पिसता है। कबीर भी इससे न छूटा। वह कहता है:—

चलती चाकी देखि कै दिया कबीरा रोय।
दुइ पाटन के बीच में साबित बचा न कोय॥

कबीर पिसता रहा, जूझता रहा। किन्तु फिर भी वह धनी के हेत लड़ता रहा। वह कहता है:—

सूरा सोइ सराहिये लड़ै धनी के हेत।
पुरजा पुरजा होइ रहै तऊ न छाँडै खेत॥
सूरा सोइ सराहिये अङ्ग न पहरै लोह।
जूझै सब बन्द खोलिकै छाँडै तनका मोह॥

आत्मसमर्पण में कबीर दुनिया का अगुआ रहा है। युद्धक्षेत्र में वह अन्त तक जूझता रहा। अंत में उसकी जीवन तटिनी अनंत की मरुभूमि में विला गई और सरस्वती का वह अनोखा पुजारी 'सरस्वती' की न्याईं मगहर में सदा के लिये विलीन हो गया।

कबीर का जीवन अपने जैसा आप था, उसकी रचना अपने जैसी आप थी। उसकी कविता में उसके आत्मा का स्वच्छंद प्रवाह है। उसने

ज्ञान की अग्नि में चित् और अचित् को पिघाल एक कर दिया है। वह कहता है:—

यह तत वह तत एक है एक प्राण दुइ गात।
अपने जिय से जानिये मेरे जिय की बात॥
उठा बगूला प्रेम का तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला तिनका तिन के पास॥
भारी कहूँ तो बहु डरूं हलका कहूँ तो झीठ।
मैं क्या जानूं पीव को नैना कछु न दीठ॥
जो देखै सो सुनै नहीं कहै सो देखै नाहिं।
सुनै सो समझावै नहीं रसना दृग श्रुति काहि॥
लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

उक्त पद्यों में उपनिषदों का निचोड़ है। इनमें आत्मा का रुचिर निदर्शन है। जो बात विज्ञान ने घुमा फिरा कर उलझे शब्दों और कड़े संदर्भों में रक्खी है, वही कबीर ने गाँव की बोली में खोल कर रख दी है। कबीर को हर जगह अपना राम दीखता था। वह उसके लिये किसी दिन किसी देवालय में नहीं गया। वह कहता है:—

मोकों कहाँ ढूंढता बंदे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं छगरी, ना मैं मेंठी ना, मैं छुरी गंडास में॥
नहिं खाल में नहीं पूंछ में ना हड्डी ना माँस में।
ना मैं देवालय ना मैं मसजिद ना कावै कैलास में॥
मैं तो रहौं सहर के बाहर मेरी पूरी मवास में।
कहै कबीर सुनों भइ साधौ सब साँसों की साँस में॥

सब सांसों की सांस में रमता हुआ कबीर इतना अधिक आशावादी है कि उसे सारा संसार अनदेखे उसी एक दिशा की ओर चलता दीख पड़ता है—

चिउंटी जहाँ न चढ़ि सकै राई ना ठहराय।
आवागम की गम नहीं तहं सकलो जग जाय॥

विकासवाद की ओर कितना सुन्दर संकेत है।

कबीर ने अपनी सूक्तियों पर बाह्य अलंकारों का मुलम्मा नहीं लगाया है। भाव के आवेश में आ उसने जो कुछ भी कह दिया है, वह हृदय की रुचिर वृत्तियों को चमत्कृत करने के लिए अनूठा उपकरण बन गया है। जो अलंकार उसकी सूक्तियों में मिलते भी हैं, वे उसने ढूँढकर नहीं बैठाये हैं। छानबीन, पोंछताँछ और ठोकपीट से उसे घृणा थी। मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के रूप में कला का कबीर की कविता में नितांत अभाव है, किन्तु यदि कला नाम तथ्य के रागात्मक अभिव्यंजन का है तो कबीर की रचना उससे ओतप्रोत है।

कविता रचते समय छंदों के औचित्य पर भी कबीर का ध्यान न जाता था। भावाविष्ट हो डफरी बजाकर गाने में जो छंद जिस रूप में निकल गया, वही उचित हो गया। आत्मा की निगूढ अनुभूति की उथलाती लहरियों में छंद की ग्रंथियों के लिये अवकाश न था। मात्राओं के घट-बढ़ जाने की चिंता भी कबीर को न थी। आषाढ़ के नीरगर्भ बादल की भाँति वह आर्त जगत् के लिये जीवन का नवीन संदेश लेकर उतरा था, इस संदेश में मात्राओं की गणना न थी, छंदों का नियंत्रण न था।

कबीर की भाषा क्या थी, यह बताना भी कठिन है। उसकी रचनाओं में अनेक भाषाओं के शब्द ही नहीं, अपितु क्रियापद, संयोजक शब्द तथा कारकचिह्नादि भी बहुत सी भाशाओं के मिलते हैं। क्रियापदों के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं। कारकचिह्नों में से कै, सुन, सा आदि अवधी के हैं, कौ व्रज का है और थै राजस्थानी का। इस संमिश्रण का कारण यह है कि कबीर ने दूर दूर के साधु संतों का संग किया था, जिससे स्वभावतः उन पर भिन्न-भिन्न प्रांतीय बोलियों का प्रभाव पड़ा।

कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। फलतः उनकी वाणी में उपास्य के प्रति जो संकेत मिलते हैं, वे आभास के रूप में हैं और रहस्यात्मक हैं। जब भक्ति का प्रतीक प्रत्यक्ष होता है, तब भक्त की वाणी निर्दिष्ट तथा

निश्चित होती है, किन्तु जब भक्त परिचित प्रदेश की परिमित परिधि को लांघ अपरिचित की धुँधली स्थली में पहुँचता है, तब उसके संकेत आभासमात्र रह जाते हैं। अनिर्दिष्ट की उस धुन्ध में भक्त को सर्वरूप सर्वेश्वर की झांकी मिलती है, किन्तु अपनी भौतिक इन्द्रियों के द्वारा वह उस अभौतिक तत्व का व्याख्यान नहीं कर सकता। उसकी ख्याति के लिए वह भांति भांति की भाषा तथा विविध प्रकार के रूपकों का का आयोजन करता है, उस एक सुवर्णरेखा को हस्तगत करने के लिए वह भाषा के रंगबिरंगे तंतुओं का ताना-बाना बुनता है, किन्तु अपने ध्येय की पूर्ति में सफल नहीं होता। अनुभूति का व्याख्यान करने की इस उत्कट अभिलाषा और प्रयत्न करने पर भी उसमें सफलता न होने में ही रहस्यवाद का यथार्थ मूल है।

इस रहस्यवाद से कबीर की उक्तियाँ ओतप्रोत हैं।

अस जोलाहा का मर्म न जाना। जिन जग आइ पसार तताना ॥
महि अकाश दुइ गाड़ बनाई। चंद्र सूर्य दुइ नरा भराई ॥
सहस तार ले पूरनि पूरी। अजहूँ बिनै कठिन है दूरी ॥

आदि छन्दों में वह निर्गुण जुलाहे का वर्णन करने चलता है, किं थोड़ी ही देर बाद—

"मैं क्या जानूं पीव को नैना कछु न दीठ"

—कहकर बैठ जाता है, और उसकी अनुभूति गूँगे का सा गुड़ बन जाती है। स्थान स्थान पर हम उसे 'अचिंत्य' के चिंतन में लगा हुआ पाते हैं और सभी जगह हमें उसका यह प्रयास उसकी भाषा, छन्द अलंकार, व्याकरण आदि को शीर्ण करने में परिणत हुआ दीख पड़ता है।

कबीर ने दृश्य को छोड़ अदृश्य को अपनाया था, फलतः वह सब जगह, सब रूपों में सब अवस्थाओं और सब कालों में उसकी उद्भावना

कर लेता है। यही कारण है कि हम उसे धनियों को छोड़ निर्धनों में, ललनाओं को छोड़ ललित रूपों में, वेद और कुरान की संकुचित परिधि को छोड़ 'असीम' के प्रांत में, और भाषा तथा कला की रूढ़ियों को छोड़ 'तथ्य' के निदर्शन में रमता हुआ पाते हैं।

यही कारण है कि उसकी वाणी समाज की उन्नत श्रेणी की अपेक्षा अवनत श्रेणी को अधिक रुची और उनमें सदा के लिए घर कर गई।

कबीर की वाणी का संग्रह—जो रमैनी, सबद और साखी इन तीन भागों में विभक्त है—बीजक के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

धर्मदास; १५७५ में कबीर की गद्दी पर बैठे

धर्मदास की जन्मतिथि अनिश्चित है। ये बांधवगढ़ के रहने वाले, जाति के बनिया थे। बचपन ही से इनके हृदय में प्रेम, भक्ति और दया के भाव अंकुरित हो गये थे. कबीर के मुख से मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, जाति-पाँति के बन्धन तथा प्रकारवाद का खंडन सुनकर आप उनके प्रधान शिष्यों में हो गये। संवत् १५२१ में आपने कबीर की वाणी का संग्रह किया। सं० १५७५में आप कबीर के दिवंगत होने पर उनकी गद्दी पर बैठे।

इनकी रचना में पाखण्ड-खण्डन की अपेक्षा प्रेमतत्त्व का निदर्शन अधिक है। भाषा इनकी पूर्वी है। उदाहरण :—

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै, खन बिजुली चमकै लहरि उठै, सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनंद ह्वै साधु नहाय॥
खुली केवरिया, मिटी अँधियरिया, धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरमदास बिनवै कर जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय॥

× × × ×

मितउ मड़ैया सूनी करि गैलो।
अपन बलम परदेश निकरि गैलो, हमरा के किछुवो न गुन दै गैलो।
जोगिन होइकै मैं बन बन ढूँढौं, हमरा के बिरह-बैराग दै गैलो॥

संग की सखी सब पार उतरि गइलीं, हम धनि ठाढ़ि अकेली रहि गैलों।
धरमदास यह अरज करतु है, सार सबद सुमिरन दै गैलो॥

नानक देव; सं० १५२६–१५९६

सिख संप्रदाय के प्रवर्तक तथा प्रथम गुरु नानक जी जाति के खत्री थे। इनका जन्म सं० १५२६ कार्तिकी पूर्णिमा के दिन तिलवंडी ग्राम, जिला लाहौर में हुआ। इनके पिता कालूचन्द जिला लाहौर, तहसील शरकपुर के तिलवंडी ग्राम के सूबा बुलार पठान के कारिन्दा थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। १५४५ में इनका विवाह गुरुदासपुर के मूलचन्द खत्री की कन्या सुलक्षणी से हुआ, जिससे इन्हें श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द नाम के दो पुत्र हुए। श्रीचन्द आगे चलकर उदासी संप्रदाय के प्रवर्तक हुए।

बचपन से ही भक्तिप्रवण होने के कारण व्यवसाय में इनका चित्त न लगा और कबीर से भेंट होने पर ये उनके अनुयायी बन गये। कबीर से जाति और धर्म के ऐक्य का मंत्र सीखकर इन्होंने इसलाम और हिन्दू धर्म के संघर्ष के कारण पञ्जाब में जो अशांति फैल रही थी, उसे दूर करने का सफल प्रयत्न किया, और उसी के निमित्त इन्होंने वीर सिख संप्रदाय की स्थापना की। नानक की वाणी में हिन्दू और मुसलमानों के मंतव्यों का मेल प्रशंसनीय रीति से हुआ है।

कबीर की भांति नानक की वाणी भी उनके हृदय का अविरल प्रवाह है; और उसमें बाह्य कला के न होने पर भी, तथ्यालोचन से स्वयं प्राप्त होने वाली आंतरिक कला का यथेष्ट परिपाक है। पञ्जाबनिवासी होने के कारण उनकी वाणी में पञ्जाबी शब्दों की पर्याप्त संख्या है, जो उनकी व्रजभाषा और खड़ी बोली की कविता में अच्छे प्रतीत होते हैं। इनकी वाणी 'गुरु ग्रंथसाहब' में संगृहीत है, जिसमें कबीर आदि के पद भी संकलित हैं। उदाहरण.—

इस दम दा मैंनूं की वे भरोसा, आया आया, न आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना कहीं देखा, कहीं नाहिं दिखाया॥

सोच विचार करे मत मन में, जिसने ढूंढा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद परसे, निस दिन रामचरन चित लाया ॥

× × × ×

जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै ॥
नहिं निन्दा नहिं अस्तुती जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक तें रहै नियारो, नाहिं मान अपमाना ॥
आसा मनसा सकल त्यागि कै, जग तें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिं न, तेहि घट ब्रह्म निवासा ॥
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं, तिन्ह यह जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविन्द सों, ज्यों पानी सँग पानी ॥

दादूदयाल; सं० १६०१–१६६०

सम्वत् १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नगर में इनका जन्म होना कहा जाता है। इनकी जाति के विषय में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं और कुछ मोची या धुनिया। दादू का गुरु कौन था, यह भी निश्चित नहीं। पर कबीर का इनकी वाणी में जगह जगह नाम आया है; और इसमें कोई संदेह नहीं कि ये उन्हीं के अनुयायी थे।

दादू चौदह वर्ष तक आमेर में रहे। वहां से मारवाड़, बीकानेर आदि स्थानों में घूमते हुए संवत् १६५६ में नराना में (जयपुर से २० कोस दूर) आकर रहे। वहाँ से तीन चार कोस पर भराने की पहाड़ी है। वहीं इन्होंने संवत् १६६० में शरीर छोड़ा। यह स्थान दादूपँथियों का अड्डा है, और वहाँ दादूजी के कपड़े और पोथियाँ अब तक रक्खी हैं।

संत कवियों की भांति दादू ने भी साखियाँ तथा पद आदि कहे हैं, जिन में सतगुरु की महिमा, ईश्वर की व्यापकता, जाति-पांति की अवहेलना आदि के उपदेश दिये गए हैं। दादू ने अपनी वाणी में तर्क का कर्कश मार्ग छोड़ हृदय की सची अनुभूति का ही पट खोला है। उदाहरण:—

भाई रे ! ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पखरहित पंथ गह पूरा, अबरन एक अधारा।
वाद-विवाद काहु सौं नाहीं, मैं हूँ जग तें न्यारा॥
सम दृष्टि सूं भाई सहज में, आप ही आप विचारा।
मैं, तैं, मेरी यह मति नाहीं, निरवैरी निरविकारा॥
काम कलपना कदै न कीजे, पूरन ब्रह्म पियारा।
एहि पथ पहुंचि पार गहि दादू, सो तन सहज संभारा॥

मलूकदास; सं० १६३१—१७३६=१०८ वर्ष

मलूक का जन्म लाला सुन्दरदास खत्री के घर में वैशाख कृष्णा पंचमी, संवत् १६३१ में कड़ा, जिला इलाहाबाद में हुआ। इनकी मृत्यु १०८ वर्ष की अवस्था में संवत् १७३६ में हुई। ये औरङ्गजेब के समकालीन निर्गुण भक्त कवि थे। रसखान तथा ज्ञानबोध नाम की इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं, जिनमें वैराग्य तथा प्रेम आदि की मनोहर वाणी है। और संतों की अपेक्षा इनकी भाषा शुद्ध होती थी।

उदाहरण:—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए, सब के दाता राम॥
सबहिन के हम सबै हमारे, जीव-जंतु मोहि लगैं पियारे।
तीनों लोक हमारी माया, अंत कतहुं से कोई नहिं पाया॥
छत्तिस पवन हमारी जाति, हमही दिन औ हमही राति।
हमही तरवर कीट पतङ्गा, हमही दुर्गा, हमहीं गङ्गा॥
हमही मुल्ला हमही काजी, तीरथ वरत हमारी बाजी।
हमही दसरथ हमही राम, हमरै क्रोध औ हमरे काम॥
हमही रावन हमही कंस, हमही मारा अपना वंस॥

सुन्दरदास; सं० १६५३—१७४६

सुन्दरदास का जन्म चैत्र शुक्ला नवमी, सं० १६५३ में द्योसा नामक स्थान (जयपुर राज्य) में एक गरीब वैश्य घराने में हुआ था। इनके पिता का

नाम परमानंद और माता का नाम सती था। छः वर्ष की अवस्था में ये दादूजी के शिष्य हो गये। संवत् १६६० में दादू का देहांत हुआ। उसके कुछ वर्ष पश्चात् ये जगजीवन साधु के साथ काशी गये। वहाँ इन्होंने संस्कृत, हिन्दी, फ़ारसी आदि का अभ्यास किया। वहाँ से लौटकर ये राजपूताने के फ़तहपुर (शेखावटी) नामक स्थान में आ रहे।

सुन्दर सचमुच रूपवान् थे। इनकी रचना साहित्यिक, सरस तथा विदग्ध है। भाषा भी परिमार्जित व्रज है। भक्ति और ज्ञानचर्चा के अतिरिक्त नीति और देशाचार आदि पर भी इन्होंने चुटीले पद्य लिखे हैं। यों तो छोटे-मोटे इनके अनेक ग्रन्थ हैं, पर सुन्दरविलास ही सबसे प्रसिद्ध है। इसमें कवित्त और सवैयों की संख्या अधिक है। इनके कवित्त तथा सवैयों में यमक, अनुप्रास और अर्थालंकार आदि की योजना बराबर मिलती है। भिन्न भिन्न प्रदेशों के आचार-विचार पर इनकी उक्तियाँ विनोदपूर्ण हैं। जैसे गुजरात पर :—

आभड़ छोत अतीत सों होत बिलार औ कूकर चाटत हाँडी।

मारवाड़ पर :—

वृच्छ न नीर, न उत्तम चीर, सुदेसन में गत देश है मारू॥

दच्छिण पर:—

राँधत प्याज, बिगारत नाज, न आवत लाज, करैं सब भच्छन॥

पूरब पर:—

ब्राह्मन, छत्री, बैसरु सूदर चारोंह बर्न के मच्छ बघारत॥

तत्वज्ञान के विषय में:—

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति तें महत्तत्व, पुनि अहंकार है।
अहंकार हू तें तीन गुण सत, रज, तम,
तम हू तें महाभूति विषय पसार है॥
रज हू तें इंद्री दस पृथक् २ भई,
सत्त हू त मन आदि देवता विचार है।

ऐसे अनुक्रम करि सिष्य सूं कहत गुरु,
सुन्दर सकल यह मिथ्या भ्रमजार है ॥

सुन्दरदास के अतिरिक्त संतों में अक्षर, अनन्य, धर्मदास, जगजीवन आदि का नाम भी लिया जाता है, साथ ही तुलसी साहब, गोविन्द साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि अनेक संत हुए, जिनमें से अधिकांश का साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु सन्तों की परंपरा का अन्त नहीं हो गया और न्यूनाधिक रूप में वह बराबर चलती रही, और अब तक चली जा रही है।

उपसंहार

यद्यपि साहित्यिक समीक्षा में निर्गुण संत कवियों को उच्चतम स्थान नहीं दिया जाता, पर इससे हम उनके किये हुए उपकारों को नहीं भूल सकते। मुसलमान और हिंदू संस्कृतियों के उस संघर्षकाल में जिस शांतिमयी वाणी की आवश्यकता थी, संतों ने उसी की अभिव्यंजना की। यह सत्य है कि समाज के उच्च वर्ण इस निर्गुण संप्रदाय की ओर अधिक आकृष्ट नहीं हुए, पर समाज की निम्न श्रेणी का जो भारी कल्याण इन महात्माओं ने किया, वह देश के इतिहास में स्मरणीय रहेगा।

———

अध्याय ६

मध्ययुग—प्रेममार्गी सूफी भक्तिशाखा

मध्ययुग के निर्गुणोपासक भक्तों की दूसरी श्रेणी उन प्रेममार्गी सूफी संतों की थी, जिनका आराध्यदेव निर्गुण और निराकार तो है किंतु साथ ही वह अमित प्रेम का आगार भी है। ये संत अखिल विश्व को एक चिरंतन ज्योति से भासित पाते थे और रोम-रोम में, अणु अणु में उसके प्रेमरूप की झांकी लेते थे। इस परंपरा के कवि लौकिक प्रेम और लौकिक सौंदर्य को अलौकिक रूप में देखा करते थे और अपने हृदय में प्लावित प्रेम को प्रबंध-काव्य के रूप में वर्णित काव्य के द्वारा व्यक्त करते थे। वह अव्यक्त तत्त्व, वह शाश्वत चिरंतन सत्य, जिसमें गुण नहीं और जो आकार की सीमा से बाहर रहा है इनकी प्रेमभरी प्रतीकों में उद्भासित हो इन सरीखा बन गया है और इनके द्वारा कल्पित हुए कथानकों में इस प्रकार बरतता है जैसे हम लोग अपने दिन रात के कामों में व्यापृत रहते हैं। और इस प्रेमाभिव्यक्ति के लिये इन्होंने ऐसे कथानकों का उत्थान किया है जिनमें प्रेम की पीर पराकाष्ठा को पहुँची है और जिनमें इतिहास का वहीं तक समावेश है जहाँ तक कि उससे अलौकिक प्रेम के अभिव्यंजन में सहायता मिलती हो। इस उद्देश्य के लिये इन्होंने अधिकांश कथानक हिंदू समाज से लिये हैं, क्योंकि ऐसा करके वे हिंदू और मुसलमानों के हृदय की एकता को दर्शा दोनों जातियों और धर्मों को एक बना देना चाहते थे।

प्रस्तुत अध्याय में इस संप्रदाय के संत-कवियों का वर्णन किया जायगा।

कुतबन; सं० १५५० के लगभग

इनके जन्मस्थान तथा माता पिता आदि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। ये शेख़ बुरहान चिश्ती के शिष्य तथा हुसैन शाह के आश्रित थे।

इन्होंने अपना मृगावती काव्य संवत् १५५६–६० में समाप्त किया था। इसका आख्यान यों है :—

चंद्रगिरि के राजा गणपति देव का पुत्र कंचननगर के राजा रूपमुरारी की मृगावती नाम की राजकुमारी पर आसक्त होता है। वह उड़ना जानती है, इसलिए बचकर भाग जाती है। राजकुमार "प्रेम की पीर" में व्यथित हो उसे खोजने निकलते हैं। ये बीच में रुक्मिणी नामक सुंदरी को राक्षस से बचाते हैं, जिस पर उसका पिता उसे इन्हें ही सौंप देता है। अंत में मृगावती से मिलन होता है और वह दोनों रानियों को ले घर आता है। कुछ दिन बाद हाथी से गिरकर उसकी मृत्यु हो जाती है, और दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं।

इस कथानक के आधार पर कवि ने प्रेम-मार्ग की कठिनता तथा उसमें होने वाले आत्मसमर्पण का निदर्शन कराते हुए, प्रस्तुत लौकिक प्रेम के द्वारा अप्रस्तुत परमात्मप्रेम का अभिव्यंजन किया है। इनकी रचना का उदाहरण :—

रुकमिनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंती सत सों सति भई॥
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥
विधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू॥

मंझन

इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनकी रचना मधुमालती की एक खंडित प्रति प्राप्त हुई है। जायसी ने इसका उल्लेख किया है, इसलिए यह उससे पहले की रचना अवश्य है। कथानक का सार यों है।—

कनेसर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर को कुछ अप्सराएं सोता उठाकर महारस नगर की राजकुमारी के पास ले जाती हैं। जागने पर दोनों मिलते हैं, और एक दूसरे पर आसक्त हो, सो जाते हैं। अप्सराएँ मनोहर को घर छोड़ आती हैं। मनोहर खोज में निकलता है, समुद्र में जहाज टूटने पर

यह अकेला तख्ते के सहारे एक जंगल में पहुँचता है, और चितविसरामपुर के राजा चित्रसेन की पुत्री प्रेमा की एक राक्षस से रक्षा करता है। उसे वह महारस में लाता है। प्रेमा के पिता उसे मनोहर से ब्याहना चाहते हैं, पर वह नहीं मानती। मधुमालती उसके यहां आती है और दोनों का मेल होता है। मधुमालती की माता इस संयोग से चिढ़ती है और मधुमालती, उसके शाप से पक्षी बनकर उड़ जाती है। उसे एक दूसरा राजकुमार ताराचंद पकड़ लेता है, जिससे वह अपना सब वृत्तांत कहती है। वह उसे लेकर महारस पहुँचता है और उसे उसके माता पिता से मिला देता है। मधुमालती मंत्रबल से फिर अपना रूप पाती है और जब उसे ताराचंद के साथ ब्याहने की बात चलती है, वह उसे अस्वीकार कर देता है। अंत में मनोहर योगी बुलाया जाता है और उससे मधुमालती का विवाह होता है। एक दिन मधुमालती के साथ प्रेमा को झूले पर झूलते देखकर ताराचंद बेसुध हो जाता है।

यहां पहुँच प्रति खंडित हो गई है। मधुमालती की कथा मृगावती की अपेक्षा अधिक रोचक है और इसके वर्णन भी अधिक विशद हैं। प्रकृति के अनेक सुंदर दृश्यों का इसमें रुचिर वर्णन मिलता है। प्रस्तुत में अप्रस्तुत का उदाहरण देखिए :—

देखत ही पहिचानेउ तोहीं। एही रूप जेहि छँदर्यो मोहीं॥
एही रूप बुत अहै छपाना। एही रूप रब सृष्टि समाना॥
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ॥
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा॥

मलिक मुहम्मद जायसी; सं० १५९७ के लगभग पद्मावत रची

मलिक मुहम्मद अवध प्रांत के जायस कसबे के रहने वाले थे। इन के गुरु प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहदी थे। जायसी ने पंडितों, साधुओं और सूफियों की संगति में बड़ी जानकारी प्राप्त की थी। वेद, पुराण, वेदांत, कुरान आदि ग्रंथों का सार इन्हें इसी प्रकार प्राप्त हुआ था। इन का पर्यटन भी विस्तृत रहा होगा, क्योंकि पद्मावत में देश भर के भिन्न

भिन्न स्थानों की भौगोलिक परिस्थिति का जो उल्लेख है, वह साधारण-तया सत्य है।

इनका रचनाकाल शेरशाह के राजत्वकाल में सोलहवीं शताब्दी का अंतिम भाग था। इनकी रचनाओं में पद्मावत तथा अखरावट प्रसिद्ध हैं। अखरावट में वर्णमाला के एक एक अक्षर को लेकर सिद्धांत-संबंधी तत्त्वों से भरी चौपाइयां कही गई हैं। इस छोटीसी पुस्तिका में ईश्वर, सृष्टि, जीव, ईश्वर-प्रेम आदि विषयों पर सूक्ष्म विचार प्रकट किये गये हैं।

पर जायसी की अक्षय कीर्ति का स्तम्भ पद्मावत है, जिसके पद पद को पढ़कर हृदय में 'प्रेम की पीर' कूकने लगती है। कथा लोकपक्ष में और कथा अध्यात्म पक्ष में, दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता अनुपम दिखाई देती है।

पद्मावत की संक्षिप्त कथा यों है :—

पद्मावत की कथा का सार यह है:—

सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की कन्या पद्मावती अति रूपवती थी। किन्तु उसे योग्य वर नहीं मिल सका। उसके पास हीरामन नाम का एक तोता था जो पूरा पण्डित और वाचाल था। वह तोता एक बार उड़ता उड़ता दैवगति से एक बहेलिये के जाल में जा फँसा, जिसने उसे चित्तौड़ के एक ब्राह्मण को बेच दिया। उस ब्राह्मण से एक लाख रुपये में वह तोता राजा रत्नसेन ने खरीद लिया। एक बार राजा की रानी ने उस से पूछा कि क्या कोई मुझसे भी अधिक सुन्दरी स्त्री दुनियां में होगी। इस पर तोते ने पद्मिनी की प्रशंसा की। इस पर रानी ने डाह से उसे मार डालने के लिये एक दासी को दे दिया। पर दासी ने दयाभाव के कारण उसे मारा नहीं; छिपा लिया और राजा को सौंपकर उसे सारा हाल कह सुनाया। जब राजा ने पद्मिनी के रूप का बयान सुना तब वह उसके प्रेम में विकल हो उठा और योगी बन सिंहल की ओर चल दिया। साथ में सोलह हजार योगी और चले। हीरामन मार्ग दिखाता चला। योगियों का

यह क़ाफ़ला कलिङ्ग से जहाज ले सिंहलद्वीप में पहुँचा। वहाँ तोते से सन्देश पाकर पद्मिनी शिवपूजन के बहाने मिलने आई। उसे देख राजा मूर्छित होगया। पीछे शिव से सिद्धि पाकर राजा ने योगियों समेत गढ़ में घुसने की चेष्टा की पर वह पकड़ा गया और उसे सूली की सजा सुनाई गई। इस पर योगियों को साथ ले शिव ने गढ़ को घेर लिया। गन्धर्व-सेन ने मुँहकी खाई और अपनी कन्या राजा को ब्याह दी। और दोनों चित्तौड़ लौट आये। चित्तौड़ के एक द्वेषी ब्राह्मण ने दिल्ली जाकर अलाउद्दीन से पद्मिनी की तारीफ़ की। इस पर अलाउद्दीन ने पहले तो राजा से पद्मिनी को मांगा, पर जब वह इस तरह उसके हाथ न आई तब उसने गढ़ पर छापा मारा। और छल करके सन्धि कर ली। राजा ने एक बार उसे न्यौता दिया और जब दोनों शतरञ्ज में मस्त थे, अलाउद्दीन ने शीशे में से पद्मिनी की झलक देख ली। जब राजा उसे विदा करने फाटक पर आया सुलतान ने उसे पकड़ लिया और वह उसे दिल्ली ले आया। पद्मिनी ने ७०० डोलियों में सैनिक बिठाकर दिल्ली पठाये और सुलतान से कहलाया कि पद्मिनी राजा से एक बार मुलाकात करके उसके अंतःपुर में आ जायगी। आदेश मिलते ही रानी की पालकी राजा की कोठरी में पहुँचाई गई। वहाँ पालकी में से निकल कर एक लुहार ने राजा की हथकड़ी काट डाली और राजा घोड़े पर चढ़कर निकल भागा। सैनिक शाही फ़ौज से लोहा लेते रहे। रतनसेन जब चित्तौड़ पहुँचा तब पद्मिनी ने राजा से कुम्भलनेर के राजा देवपाल द्वारा दूती भेजने की बात कही। इस पर रतनसेन ने कुम्भलनेर पर चढ़ाई कर दी और इस युद्ध में वे दोनों खेत रहे। रतनसेन का शव चित्तौड़ लाया गया और रानियां उसकी चिता पर सती हो गईं। जब अलाउद्दीन चित्तौड़ पहुँचा तब वहाँ राख के ढेर के सिवाय कुछ न था।

पद्मावत में प्रेममार्ग की जो मर्मस्पर्शिणी कथा है, वह स्वर्गीय प्रेम की अत्यंत विशद और व्यापक भावना से समन्वित है। क्या कथा का निर्वाह, क्या प्रसंगानुकूल भावों की व्यञ्जना, क्या वर्णनों की उपयुक्तता

और क्या इन सब का अप्रस्तुत में समन्वय; सभी की दृष्टि से पदमावत एक अनुपम रचना है।

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा?
नागमती यह दुनिया धन्धा। बाँचा सोइ न एहि चित बँधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥

उक्त पंक्तियों को पढ़ते ही दृश्य जगत् की यह कथा अदृश्य जगत् की शाश्वत कथा में परिणत हो जाती है और पाठक का अंतःकरण दिव्य अनुभूति से तरंगित हो जाता है।

× × × ×

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुइ अनी॥
उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेध अस गाढे॥
बरुनि-बान अस ओपहँ, बेधे रन बन ढाँख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख॥

उक्त पंक्तियों को पढ़ते ही पाठक का आत्मा उस अनंत सौन्दर्य की ओर अग्रसर हो जाता है, जिसके विरह में सृष्टि का रोम रोम व्याकुल हो रहा है और जिसका कुञ्चित चितवन हमें विश्व की रुचिर विभूतियों में चारों ओर दृष्टिगत हो रहा है।

जायसी की परम्परा में दूसरे प्रेममार्गी कवियों की परम्परा से अन्तर है। जहाँ दूसरे प्रेममार्गी संतों ने केवल कल्पित कथाओं पर ही अपनी रचनाओं को खड़ा किया है वहाँ जायसी ने अपने कथानक में इतिहास का मिश्रण किया है। जहाँ अन्य सूफ़ी कवि प्रेम, श्रद्धा, भक्ति तथा अन्य कोमल भावों का ही व्यक्त करते हैं वहाँ जायसी ने लोकदृष्टि से समन्वित हो युद्ध, उत्साह, क्रोध, खीझ आदि दूसरी कोटि के भावों को भी अपनी रचना में स्थान दिया है।

उसमान—

जहांगीर के समकालीन; सं० १६७० में चित्रावली लिखी।

गाज़ीपुर के रहने वाले उसमान जहांगीर के समकालीन कवि थे। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्यपरम्परा में थे; हाजी बाबा इनके गुरु थे। सम्वत् १६७० में इन्होंने चित्रावली नामक काव्य लिखा। पुस्तक के आरम्भ में कवि ने स्तुति के उपरांत पैग़म्बर और चार ख़लीफों की, जहाँगीर की, तथा शाह निजामुद्दीन की और बाबा की प्रशंसा लिखी है। आगे "जोगी ढूँढनखण्ड" में काबुल, बदख्शां, खुरासान, रूम, साम, मिश्र, इस्तंबोल, गुजरात तथा सिंहल द्वीप आदि अनेक देशों का उल्लेख किया है। उसमान ने अङ्गरेजों के देश का नाम भी एक स्थान पर लिखा है, जिससे अनुमान होता है कि अङ्गरेज उस समय यहाँ आ गये थे और उसमान को इस बात का पता था।

कथा का सार यों है:—

नैपाल के राजा धरणीधर का सुजान नामक पुत्र एक दिन आखेट करते, मार्ग भूल प्रेत की एक मढ़ी में जा रहा। एक दिन वह प्रेत और उसका मित्र सुजान को साथ ले रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की वर्ष-गाँठ का उत्सव देखने गये। उन्होंने सुजान को राजकुमारी की चित्रसारी में छोड़ दिया और आप उत्सव देखने लगे। सुजान राजकुमारी का टँगा हुआ चित्र देख उस पर आसक्त हो गया; और अपना भी एक चित्र वहाँ चीत कर सो गया। देव उसे फिर अपनी मढ़ी में ले आये। पर वह चित्रावली के प्रेम में विकल रहने लगा। इसी बीच धरणीधर के आदमी उसे घर लिवा ले गये। वहाँ खिन्न हो वह फिर उसी मढ़ी में गया, और वहाँ उसने एक सत्र खोल दिया।

उधर चित्रावली ने सुजान का चित्र देखा तो वह भी प्रेमविधुर हो गई और उसने अपने आदमी जोगियों के वेश में सुजान को ढूंढने पठाये। इनमें से एक सत्र जाकर सुजान को रूपनगर ले आया, जहां उसका शिवमंदिर में चित्रावली से साक्षात्कार हुआ। इसके अनन्तर सुजान

पर अनेक आपत्तियाँ आईं और वह चित्रावली से बिछुड़, घूमता फिरता सागरगढ़ नामक नगर में पहुँचा और वहाँ राजकुमारी कमलावती की फुलवारी में विश्राम करने लगा। कमलावती उसे वहाँ देख उस पर आसक्त हो गई और उसने उसे भोजन के लिये अपने यहाँ बुला, थाल में अपना हार रखकर, चोरी के बहाने कैद कर लिया। इसी बीच सोहिल नाम का राजा कमलावती को हरने के लिये उधर बढ़ आया, जिसे सुजान ने मार भगाया। अन्त में सुजान कमलावती से विवाह कर उसे गिरनार की यात्रा पर ले गया।

इधर चित्रावली के भेजे एक जोगी ने गिरनार में उसे पहचान उसकी सूचना राजकुमारी को दी। चित्रावली की पाती ले वह जोगी फिर लौटा और सागरगढ़ में धूनी रमाकर बैठ गया। उसकी ख्याति सुन सुजान उससे मिला और उसके साथ रूपनगर आया। इधर चित्रावली के पिता को उसके विवाह की चिंता हुई और उसने चार चित्रकारों को भिन्न-भिन्न राजकुमारों के चित्र लाने को भेजा। इसी बीच चित्रावली का भेजा जोगी सुजान को एक जगह बैठाकर कुमारी को उसकी सूचना देने जा रहा था कि इतने में एक ईर्ष्यालु दासी से इस बात का समाचार पा रानी ने उसे कैद कर दिया। जोगी को आता न देख सुजान प्रेमविधुर हो "चित्रावली" "चित्रावली" रटने लगा। राजा ने उसे मारने के लिये हाथी हूला, पर सुजान ने उसे मार गिराया। इतने में एक चित्रकार सोहिल को मारने वाले सुजान का चित्र लेकर लौटा, और राजा ने यह जानकर कि चित्रावली का प्रणयी ही वह सुजान है, दोनों का परस्पर विवाह कर दिया।

कुछ दिनों बाद सागरगढ़ की कमलावती ने प्रेमविधुर हो सुजान के पास दूत पठाया, जिसने भ्रमरविषयक अन्योक्ति द्वारा कुमार को कमलावती की याद दिलाई। सुजान ने चित्रावली को साथ ले घर की ओर प्रस्थान किया और रास्ते में कमलावती को साथ ले लिया। शनैः शनैः सुजान ने अपने घर के पास पहुँच दोनों रानियों समेत बहुत दिनों तक राज्य किया॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि जायसी के समान उसमान की कहानी भी आध्यात्मिक दृष्टि पर ही अवलंबित है और उसका उद्देश्य वही है, जो पदमावत का। कविता के नमूने के लिये इनका षड्ऋतुवर्णन पढ़ने योग्य है:—

ऋतु बसंत नौतन बन फूला। जहँ तहँ भौंर कुसुम-रँग भूला॥
आहि कहाँ सो भँवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसंत उजारा॥
रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई॥
रति-पति दुरद ऋतुपति बली। कानन-देह आइ दलमली॥

उसमान के उपरांत शेख़ नबी हुए। (सं० १६७६ जहाँगीर का काल), और इनके पश्चात् प्रेममार्गी संप्रदाय नीरस सा हो गया। यद्यपि कासिम-शाह (सं० १७८८ के लगभग), नूरमुहम्मद (सं० १८०१), फ़ाज़िलशाह (सं० १९०२) आदि कवि होते रहे, पर इनकी कृतियों में इस सम्प्रदाय का अपचय स्पष्ट दीख पड़ता है। हां, नूरमुहम्मद की इंद्रावती प्रेमकहानी अवश्य सुन्दर बन पड़ी है। यह सं० १८०१ में लिखी गई थी।

उपसंहार

क्या भाव, क्या भाषा और क्या कला; सभी की दृष्टि से प्रेममार्गी कवियों ने हिंदी को पहले से बहुत आगे बढ़ाया। वीरगाथाकाल में शौर्य-पराक्रम-विषयक ओजस्वी कविताएँ बनीं, किन्तु वे संख्या में न्यून थीं और जितनी थीं, वे भी असंस्कृत हिंदी में। कबीर आदि संतों ने वीरता के मरु-प्रांत में बहने वाली हिंदी काव्यधारा को उधर से हटा उसे भक्ति की उर्वरा भूमि में प्रवाहित किया, जिससे जनसाधारण का महान् उपकार हुआ और हिंदी को भी चार चांद लगे। किंतु कबीर की भक्ति उत्कृष्ट होने पर भी एकांततः निराकार की ओर लक्षित थी और उनकी भाषा भी अपेक्षा-कृत अव्यवस्थित तथा अनियंत्रित थी। जायसी आदि

प्रेममार्गी कवियों ने मुसलमान होने पर भी हिंदू समाज के मर्मस्पर्शी कथानकों को गा उनके द्वारा जिस प्रकार हिंदू और मुसलमानों में भावों का ऐक्य स्थापित किया, उसी प्रकार उन कथानकों की अंतस्तली में प्रवाहित होने वाले प्रेमस्रोत को विशद करके उसमें दृश्य जगत् और अदृश्य जगत् दोनों का समन्वय करके सत्तामात्र की एकता स्थापित की। भावों के समन्वय के साथ २ उन्होंने भाषा के सौष्ठव और कला के निखारने पर भी ध्यान दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अब हिंदी के अंतरंग और बहिरंग दोनों पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विशद, मनोहर, तथा सुसंस्कृत बन गये।

अध्याय ७

मध्ययुग

सगुण भक्ति धारा–राम भक्ति शाखा

अल्लाह को पूजने वाली और मनुष्य मात्र को एकता के सूत्र में पिरोने वाली उत्साहसंपन्न मुसलिम जाति जब इस देश में आई तब राजपूत सामंतों ने उसका सामना किया। दो जातियों और सभ्यताओं के इस संघर्ष में अनेक युद्ध हुए और उसमें अगणित सामंत तथा सिपाही खेत रहे। चारणों ने इन सामंतों की प्रशस्तियाँ गाईं और उनके ये गीत आगे चलकर चारण-काव्य बने। शनैः शनैः मुसलमानों का दौरदौरा देश में हो गया और भारत के वीर सामंत कुछ न बनता देख कोनों में ठिठक गए। देश में निराशा छा गई और हिन्दू जाति निस्तेज हो गई। निराशा के इस युग में कबीर आदि निर्गुण कवियों ने विजेता मुसलमानों के एक अल्लाह की राम के रूप में पूजा कर दोनों जातियों को एकता के सूत्र में बांधने का यत्न किया। दुख और निराशा के इस युग में भी भारत में योगियों की योगधारा अखंड बहती रही और ये संत संसार से उपरत हो ध्यान-धारणा में लगे रहे। शनैः शनैः मुसलमानों की सख्ती मन्दी पड़ती गई और हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के पास आने लगे। जायसी आदि सूफी सन्तों ने हिन्दुओं के प्रेम कथानक खड़े कर उनमें प्रेम की पीर का ऐसा विशद वर्णन किया जो दोनों जातियों को रुचा, जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू मुसलमान एक दूसरे को चाहने लगे।

एकता के इस युग में जहाँ मुसलमानों ने हिन्दुओं की कुछ ही बातें अपनाईं वहाँ हिन्दुओं ने मुसलमानों की अनेक बातें स्वीकार कीं।

और शनैः शनैः वे विजेता मुसलिम जाति के अनुगामी बनते गए। शिथिलता और आदर्श-हीनता के उस युग में तुलसीदास ने हिन्दू जाति के सम्मुख राम का वह पावन कठोर चरित्र रखा जिसने एक बार फिर से जाति को अनुप्राणित किया और उसे इस बात की शिक्षा दी कि किस प्रकार आपत्तियों की अँधेरी में भी मनुष्य अपने लक्ष्य पर दृढ़ रह सकता है और किस प्रकार वह कर्तव्य-पालन के लिये अपने पिता, माता, बन्धु तथा पत्नी तक का परित्याग कर सकता है।

प्रस्तुत अध्याय में आशावाद से परिपूर्ण राम-भक्ति—कविता का दिग्दर्शन किया जायगा।

स्वामी रामानन्द १४२५—१४५६

कहने की आवश्यकता नहीं कि शङ्कर ने जिस अद्वैत की स्थापना की थी, उसमें जनता के आंतरिक भावों और उल्लासों के लिये अवकाश न था। फलतः रामानुज [संवत् १०७३] आदि ने ऐसे विशिष्टद्वैत का प्रचार किया, जिसके अनुसार एक ही ब्रह्म अपनी भौतिक और अभौतिक विभूतियों में विभासित होता हुआ भी अपने मौलिक रूप से च्युत नहीं होता, और जो अपने भक्तवत्सल रूप में प्रेमी भक्तों का उत्कट भक्ति के द्वारा प्राप्य है।

आचार्य रामानुज के अनुयायी स्वामी रामानन्द, काशी के बाबा राघवानन्द के शिष्य थे और बाबा राघवानंद श्री संप्रदाय के वैष्णव संत थे। राघवानन्द की मृत्यु के उपरांत स्वामी रामानन्द उनकी गद्दी पर बैठे और उन्होंने स्थान स्थान पर पर्यटन करके उत्तर भारत में रामावत भक्तिसंप्रदाय का प्रचार किया।

दूरदर्शी रामानंद की शिष्यमंडली में शूद्र और मुसलमान तो संमिलित थे ही, उसमें स्त्रियों को भी समान अधिकार दिया जाता था।

इनके संस्कृत ग्रन्थों में वैष्णव-मताब्ज भास्कर तथा श्रीरामार्चन-पद्धति मुख्य हैं। निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने भाषा में कितना और

क्या लिखा। हनुमान जी की स्तुति में उनकी यह आरती पढ़ने योग्य है:-

आरति कीजै हनुमान लला की । दुष्ट-दलन रघुनाथ-कला की ॥
जाके बल-भर ते महि काँपै । रोग सोग जाकी सिमा न चाँपै ॥
अंजनी-सुत महा-बल-दायक । साधु-संत पर सदा सहायक ॥आदि।

गोस्वामी तुलसीदास; जन्म सं० १५५४, मृ०सं० १६८०

रामभक्ति की जो शाखा महात्मा रामानन्द द्वारा विकसित हुई, आगे चलकर उसका गोस्वामी तुलसीदास ने अत्यधिक विस्तार किया। इनकी जगत्प्रसिद्ध रामायण हिंदी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रत्न तथा उत्तर भारत की धर्म-प्राण जनता का सर्वस्व है।

गोसाईं जी के समकालीन शिष्य बाबा वेणीमाधवदास द्वारा रचित गोसाईं चरित तथा महात्मा रघुवरदास के रचे तुलसी चरित दोनों के अनुसार स्वामी जी का जन्म-संवत् १५५४ और स्वर्गवास- संवत् १६८० ठहरता है; किंतु डा० ग्रियर्सन ने उनके जन्म संवत् के विषय में शंका करते हुए, जनश्रुतियों के आधार पर उसे १५८९ माना है। तुलसीदास युक्तप्रांत के बाँदा ज़िले में राजापुर गांव के निवासी थे। वे सरयूपारीय ब्राह्मण थे। इनके पिता आत्माराम पत्यौजा के दूबे और इनकी माता हुलसी थीं, जिनका उल्लेख अकबर के दरबारी कवि रहीम ने किया है। मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण, माता पिता द्वारा परित्यक्त हो, बड़े होने पर घूमते फिरते ये बाबा नरहरिदास के शिष्य बने; जिनके साथ काशी जा, रामानन्द के आश्रम में रहकर इन्होंने महात्मा शेष सनातन जी से वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि का पारायण किया। पन्द्रह वर्ष तक काशी निवास करके, विद्याव्रतस्नातक बन, ये अपनी मातृभूमि राजापुर में लौटे, जहाँ यथासमय इनका भारद्वाजगोत्रीय एक ब्राह्मण कन्या से विवाह हुआ। भावुक तुलसी अपनी पत्नी पर इतने अनुरक्त हुए कि एक बार उनके मायके चले जाने पर ये बढ़ी नदी पार करके उससे जाकर मिले। स्त्री ने उस समय इनसे कहा :—

लाज न लागत आपको दौरे आएहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि-चर्ममय देह मम तामें जैसी प्रीति।
तैसी जौ श्रीराम महं होति न तौ भवभीति॥

इन दोहों को सुनते ही तुलसी विरक्त हो साधु बन गये और घर छोड़कर देश के अनेक भागों और तीर्थों में घूमते रहे। उत्तर में मानसरोवर और दक्षिण में सेतुबंधरामेश्वर तक इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि इन्हें अधिक भाई थी। काशी, प्रयाग और अयोध्या इनके स्थायी निवास थे, जहाँ ये बरसों ठहरते और ग्रन्थ-रचना करते थे। मथुरा-वृन्दावन की यात्रा में इन्होंने कृष्णगीतावली लिखी थी। कहा जाता है कि चित्रकूट में सं० १६१६ में एक बार सूरदास जी इनसे मिलने आये थे। केशव और रहीम से भी इन का साक्षात्कार होना बताया जाता है।

अंत में, संवत् १६३१ में काशी जाकर इन्होंने अपने विश्वविदित रामचरितमानस की रचना आरम्भ की, जिसकी पूर्ति में इनके लगभग ढाई वर्ष लगे। इस ग्रंन्थरत्न ने गोसाईं जी की कीर्ति को दिगंतव्यापनी तथा अक्षय बना दिया। इसकी समाप्ति पर आपके मुँह "पायौ परम विश्राम" निकला था। रामचरितमानस की रचना के उपरांत गोसाईं जी का जीवन श्रीराम के चरणों में अर्पित हो गया, जिनकी आराधना के उल्लास में मस्त हो आपने विनयपत्रिका लिखी।

संवत् १६८० में, तुलसी काशी में महामारी और विषूचिका से ग्रस्त हो स्वर्ग सिधार गये।

गोसाईं तुलसीदास का जो अक्षय प्रभाव भारतीय जनता पर है, उसका प्रमुख कारण रामचरितमानस में दीखने वाली उनकी भव्यता, उदारता, विलक्षण प्रतिभा, निगूढ़ अनुभूति तथा सारग्राहिणी प्रवृत्ति हैं। भावपक्ष और कलापक्ष के सामंजस्य को अनुपम रीति से निभाते हुए, लोकपक्ष और अध्यात्मपक्ष का जैसा रुचिर संकलन रामचरितमानस में निष्पन्न हुआ है, वैसा अन्य किसी काव्य में नहीं। कविता के मूल लक्षण सरलता, ऐन्द्रियता

तथा भावमग्नता जितने विशद और व्यापक इसमें बन पड़े हैं, उतने अन्य किसी कविता में नहीं। आत्मा की निगूढ़ अनुभूति और उसके विविध भावों की जितनी सजीव विवृति इसमें सिद्ध हुई है, वैसी अन्य किसी रचना में नहीं। वर्णनात्मक कविता के सौष्ठव के लिए तो उनकी आद्योपांत रामायण साक्षी है ही, उनकी अनुपम नाट्यकला का संसूचन भी हमें इसमें स्थान स्थान पर प्राप्त होता है। परशुराम-लक्ष्मण-संवाद, अंगद-रावण-संवाद आदि प्रकरणों से यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है। मर्त्यजगत् के विषय में वर्णनात्मक कविता करते करते, प्रसंगतः अरण्य, शैल, नदी, ऋतु आदि का चित्रण करते करते पाठक को एक चुटकी में; इन सबकी अंतस्तली में प्रवाहित होने वाले अमर स्रोत का आभास दिला देने में जितने सफल तुलसी ठहरे हैं, उतना अन्य कोई कवि नहीं।

वर्तमान काल के 'छलकते घड़े' प्रचारकों को तुलसी की 'ढोल गवाँर पशु और नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' आदि उक्तियों में और उनके द्वारा उद्भावित 'सीतापरित्याग' आदि प्रकरणों में भले ही अनुचित कर्कशता तथा बर्बरता दीख पड़ती है, किंतु गंभीर दृष्टि से चिंतन करने वाले इतिहासज्ञों को इन सब ताड़नाओं के पीछे भी तुलसी की पीयूषवाहिनी प्रेमयष्टि ही दीख पड़ेगी। कैकेयी जैसी पतिघ्न नारियों पर भी अस्त्र न गिरवा तुलसी ने अपने उक्त वचन को शूर्पणखा जैसी भ्रष्टचरित्र उद्दण्ड स्त्रियों तक ही परिसीमित कर दिया है और लोकसंग्रह तथा प्रजारंजन के निमित्त राम के हाथों गर्भिणी जानकी को जंगल में भिजवा तुलसी ने तत्कालीन निरंकुश हिंदू राजाओं को प्रजारंजन का वह आदर्श दिखाया, जो 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' अपने जैसा आप रहेगा।

गोस्वामी जी की रचनाओं में रामचरितमानस और विनयपत्रिका के अतिरिक्त दोहावली, कवित्तावली, गीतावली, रामाज्ञाप्रश्न आदि बड़े ग्रंथ तथा बरवै रामायण, रामललानहछू, कृष्णगीतावली, वैराग्यसंदीपनी, पार्वतीमंगल और जानकीमंगल छोटी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं।

इन रचनाओं में हमें दो प्रकार की भाषाएँ दीख पड़ती हैं :—

(१) अवधी (२) व्रजभाषा ।

अवधी भाषा को साहित्यक्षेत्र में लाकर परिमार्जित करने का श्रेय प्रेम-मार्गी सूफ़ी कवियों को है, जिनके संप्रदाय और रचनाओं का परिपाक जायसी की अमर कृति पदमावत में हुआ था। दूसरी ओर व्रज की चलती भाषा को परंपरा से चली आनेवाली काव्य भाषा के मध्य पूर्णरूप से प्रतिष्ठित करने का श्रेय भक्तप्रवर सूरदास को था, जिनकी अमर रचना सूरसागर व्रजभूमि का सर्वोत्तम शृंगार है। गोसाईं जी ने अपने समय की दोनों काव्यभाषाओं में रचना की और कहने की आवश्यकता नहीं कि व्रजभाषा की जो माधुरी हम सूरसागर में पाते हैं, वही माधुरी और भी अधिक सांद्र रूप में हमें गीतावली और कृष्ण गीतावाली में प्राप्त होती है; और ठेठ अवधी का जो ठाठ हमें जायसी की पदमावत में दीख पड़ता है, वही गोसाईं जी की रचना में संस्कृत की कोमल कांत पदावली के संमिश्रण से सौ गुना प्रस्फुटित हो हमें उनके जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, बरवै रामायण और रामललानहछू में दृष्टिगत होता है। यह सूचित करना वृथा है कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था और न जायसी का व्रज पर। इस प्रकार भाषा की दृष्टि से भी हम तुलसीदास को हिंदी भाषा के उच्चतम आसन पर प्रतिष्ठित हुआ पाते हैं।

भाषा के साथ ही गोसाईं जी का छंदों पर भी व्यापक आधिपत्य था। रामायण में उन्होंने जायसी की भाँति दोहे-चौपाइयों का क्रम रक्खा है, परन्तु साथ ही हरिगीतिका आदि लंबे तथा सोरठा आदि छोटे छंदों का भी उसमें उचित समावेश किया है। लंका कांड में आने वाले युद्धवर्णन में वीरगाथा-काल की छप्पय पद्धति खूब फबी है। कवितावली में कवित्त को अपना विनयपत्रिका [illegible] गीतावली आदि में व्रजभाषा के सगुणोपासक महात्माओं की गीतपद्धति [illegible] कार की है। नीति के उपदेशों के लिए दोहावली आदि में उन्होंने दोहे का उपयोग किया है। इस प्रकार गोसाईं जी की रचनाओं में [illegible] भाषा के समान छंदों पर भी उनका अनुपम आधिपत्य निष्पन्न हुआ

देखते हैं, और जिस प्रकार हमें पाश्चात्य-जगत् में महाकवि शेक्सपीयर की उन्मादकारिणी साहित्यवीणा पर अशेष जगत् एक साथ मुखरित हुआ सुनाई पड़ता है, उसी प्रकार पौरस्त्य जगत् में विश्वकवि तुलसीदास की अमर रचनाओं में व्यक्त और अव्यक्त समस्त जगत् एक साथ स्पंदन करता हुआ दृष्टिगत होता है। इसी बात में गोस्वामी जी की अपनी विशेषता है।

संक्षेप में विषय का प्रतिपादन, सद्गुणों का कीर्तन और दुर्गुणों की कुत्सा, स्वच्छंदता से कथानक-वर्णन, आद्योपान्त रस का निवाहन, कथनोपकथन की सजीवता, पात्रों के चरित्र का चित्रण, रूपकों का उत्थान, अनूठी उपमाएँ, नैसर्गिक दृष्टिकोण, पदार्थों का परिपूर्ण वर्णन, प्रच्छन्न प्रहसन, उत्कट उमंग, बहुज्ञता-प्रतिभा, अर्थ-गौरव, पद-लालित्य, कथाओं और किंवदन्तियों का मूलकथा में निवेश, विविध भाषाओं और शैलियों का कुशल व्यवहार, ये सब तुलसी के अपूर्व गुण हैं, जो एक जगह किसी भी कवि में इस मात्रा में नहीं मिलते। फिर उनकी अखण्ड भगवद्भक्ति और तल्लीनता तो संसार में कहां मिलेगी। इन सब कारणों से तुलसीदास विश्व-कवियों में सर्वोच्च स्थान पर जा विराजे हैं।

स्वामी अग्रदास, सं० १६३२ के लगभग

ये प्रसिद्ध भक्त नाभादास जी के गुरु और तुलसीदास जी के समकालीन थे। श्रीवल्लभाचार्य जी की शिष्यपरंपरा में होने पर भी इन्होंने रामोपासना के गीत गाये। ये जयपुर के 'गलता' नामक स्थान के रहने वाले थे। इन्होंने ध्यानमंजरी, रामध्यानमंजरी, कुंडलियां और हितोपदेश उपखाणां बावनी तथा फुटकर पद्यों की रचना की है।

राम की स्तुति में इनका गीत अच्छा है :—

पहरे राम तुम्हारे सोवत, मैं मतिमन्द अन्ध नहीं जोवत।
अपमारग मारग मैं जान्यो, इन्द्रीपोषि पुरुषारथ मान्यो॥
औरनि के बल अनत प्रकार, अगरदास के राम अधार।

नाभादास जी, सं० १६५७ के लगभग

भक्त नाभाजी की जाति, जन्म-स्थान तथा जन्म-संवत् आदि के विषय में कुछ निश्चित नहीं है। गोसाईं तुलसीदास से इनकी भेंट हुई बताते हैं। इनका जीवनकाल लगभग १६४२ से १६८० तक रहा होगा। इनकी भक्तमाला नामक रचना में सांप्रदायिक विभेद का परित्याग कर अनेक साधु-संतों की जीवनी और प्रशस्ति लिखी गई है। इसकी रचना संक्षिप्त सूत्रशैली में होने के कारण यह ग्रन्थ दुर्गम था। इस कठिनाई को दूर करने के लिये संवत् १७६६ में संत प्रियदास ने इस पर एक टीका लिखी थी।

तुलसी के सम्बन्ध में नाभा जी का यह छप्पय प्रसिद्ध है :—

त्रेता काव्य-निबन्ध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन॥
अब भक्तन सुख दैन बहुरि लीला विस्तारी।
राम-चरन-रस-मत्त रहत अहनिसि व्रतधारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो।
अलि कुटिल जीव-निस्तार-हित वालमीकि तुलसी भयो॥

प्राणचन्द चौहान, सं० १६६७, हृदयराम सं० १६८०

प्राणचन्द चौहान और हृदयराम इन दोनों कवियों ने नाटकों की शैली में रामकथा लिखी है। ये नाटक रङ्गमञ्च पर खेले जाने योग्य नहीं हैं, केवल कथोपकथन के रूप में लिखे जाने के कारण इन्हें नाटक कहा जाता है। प्राणचन्द ने सं० १६६७ में रामायण महानाटक लिखा और हृदयराम ने सं० १६८० में संस्कृत हनुमन्नाटक के आधार पर हिन्दी हनुमन्नाटक की रचना की। प्राणचन्द की कृति का उदाहरण :—

जो सारद माता करु दाया, बरनौं आदि पुरुष की माया।
जेहि माया कह मुनि जगमूला, ब्रह्मा रहे कमल के फूला॥

निकसि न सक माया कर बाँधा, देषहु कमलनाल के राँधा।
आदि पुरुष बरनौं केहि भाँती, चाँद सुरज तहँ दिवस न राती॥
इत्यादि।

हृदयराम के हनुमन्नाटक का उदाहरण :—

देखन जौ जाऊँ तो पठाऊँ जमलोक, हाथ।
दूजो न लगाऊँ, वार करौं एक कर को॥
मींजि मारौं उर ते उखारि भुजदंड, हाड़।
तोरि डारौं वर अविलोकि रघुवर को॥
का सों राग द्विज को, रिसात भहरात राम।
अति थहरात गात लागत है धर को॥
सीता को संताप मेटि प्रगट प्रताप कीनो।
को है वह आप तोर्‌यो जिन हर को॥

कहना न होगा कि रामभक्ति की कविता तुलसी की कृति से इतनी ऊंची उठ गई कि उनके पीछे आने वाले रामभक्त कवियों की अधिक ख्याति न हो सकी। रामचरितमानस के भव्य आलोक में ये सब कृतियाँ फीकी पड़ गईं, यद्यपि इनमें भी स्थान २ पर कवित्व का अच्छा चमत्कार है।

अध्याय ८

मध्ययुग

सगुणभक्तिधारा—कृष्णभक्ति शाखा

ज्ञानप्रवण आर्य जाति के मस्तिष्क का सर्वोत्तम विकास शंकर में हुआ, जिसने क्लेशभरित संसार को माया का आवरण बता इसे स्वप्न-सरीखा सिद्ध कर जाति के सम्मुख एकांत अद्वैतवाद का आदर्श रखा। इस अद्वैतवाद में भक्ति के लिये कोई स्थान न था, इसलिये स्वामी रामानुज ने विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया, जिसके आधार पर उत्तर में स्वामी रामानन्द तथा उनके शिष्य कबीर और तुलसीदास आदि ने रामोपासना के भव्य साहित्य की रचना की। इसी समय के लगभग भागवतपुराण में निरूपित भक्ति-मार्ग के आधार पर माध्वाचार्य ने द्वैतमत की पुष्टि की। जिसका दक्षिण भारत में अच्छा प्रचार हुआ और जिसने विष्णु स्वामी और निंबार्काचार्य के मंतव्यों के साथ मिलकर मैथिल कोकिल विद्यापति आदि की कविता पर प्रभाव डाला जिन्होंने वात्सल्य, शृङ्गार तथा अन्य रसों से भरित कृष्णभक्ति के ऐसे गीत गाए कि उनसे सारा हिन्दी संसार गूँज उठा

कृष्ण के साथ सेवक सेव्य-भाव और उसके लीलामय रूप के साथ सख्यभाव की स्थापना कर इन उपासकों ने क्या नहीं पा लिया। क्योंकि कृष्ण के सर्वमुखी जीवन में सभी रसों की सामग्री मिल जाती है। एक ओर यशोदा के आँगन में मटकने वाले बाल कृष्ण वात्सल्य भाव को जागृत करते हैं तो दूसरी ओर कंस का विध्वंस कर वे वीर रस का स्रोत बहा देते हैं। कभी कालिंदी के कलित कुंजों में गोपियों के साथ

प्रणयकलह करते हैं तो कभी कुरुक्षेत्र के रणांगन में उलझी हुई राजनीतिक समस्याओं को सुलझाते हैं। कभी वे राधा को मनाने में मस्त हैं तो कभी गीता के अनासक्तियोग की व्याख्या करते दीख पड़ते हैं। ऐसे महान् पुरुष के व्यक्तित्व में कौन से रस का अभाव है। यही कारण है कि जहाँ कृष्ण भक्तिधारा ने एक ओर भारतीयों के हृदय में भक्ति की भावसरिता प्रवाहित कर दी वहाँ हिन्दी साहित्य के क्षेत्र को भी उर्वर और सरसित कर दिया।

विद्यापति, सं० १४०७—१४६०

अपभ्रंश काव्य नामक प्रकरण में इनका नाम-निर्देश हो चुका है। इन्होंने राधा तथा कृष्ण की प्रेम लीला का अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है। इसमें कहीं कहीं अश्लीलता आ गई है, पर सामान्यतः प्रियतमा राधा का प्रियतम कृष्ण के साथ बड़ा ही सात्विक और सरल संमिलन प्रदर्शित किया गया है। कोमल कांत पदावली के लिए इनकी रचना प्रसिद्ध है।

इनकी भाषा में हिन्दी, बिहारी तथा बङ्गला का संमिश्रण है। बङ्गला शब्दों के कारण बङ्गाली इन्हें बङ्गीय कवि मानते हैं।

वल्लभाचार्य, १५३५—१५८७

कृष्णपूजा के प्रचार का सबसे अधिक श्रेय वल्लभाचार्य को है। इनका जन्म बैशाख कृष्णा ११ सं० १५३५ में काशी के एक तैलङ्ग ब्राह्मण के घर हुआ था। इनके पिता विष्णु संप्रदाय के अनुयायी थे। बड़े होकर वल्लभ ने व्रजभूमि के गोवर्धन नामक स्थान में कृष्ण की प्रतिमा को स्थापित किया और वहीं से उनके सम्प्रदाय का भारत के भिन्न २ भागों में प्रचार हुआ। इन्होंने संस्कृत में वेदांत सूत्र, अणुभाष्य तथा तत्वदीपनिबन्ध नामक ग्रन्थ लिखे। आषाढ़ शुक्ला २, सं० १५८७ में इनका गोलोकवास हुआ।

इनके शुद्धाद्वैतवाद में एक ओर तो रामानुज के अद्वैत की विशिष्टता दूर की गई और दूसरी ओर शङ्कर के मायावाद का प्रत्याख्यान किया गया। परमात्मा की प्राप्ति ज्ञान से नहीं, अपितु परमात्मा की दया से होती है, जिसका नाम इन्होंने पुष्टि प्रचलित किया है। वल्लभ के भक्ति-मार्ग को इसी के आधार पर पुष्टिमार्ग कहा जाता है।

पुष्टिमार्ग के अनुसार कृष्ण ही ब्रह्म है। वह सत् चित् और आनन्दरूप है। कृष्ण के ये रूप उससे भिन्न नहीं, अपितु अग्नि में से निकलने वाली चिनगारियों के समान, अथवा अग्नि के प्रकाश या उष्णता के समान, उस से अभिन्न हैं। भक्ति या पुष्टि के द्वारा अज्ञान के आवरण को हटाकर अपने मौलिक रूप अर्थात् कृष्ण में मिल जाना ही जीवन की मुक्ति है।

विट्ठलनाथ, ई० स० १५१५—१५८५

वल्लभ के सुपुत्र विट्ठल अपने पिता द्वारा स्थापित संप्रदाय के नेता ही नहीं, प्रत्युत हिन्दी के अच्छे लेखक और कवि भी थे। हिन्दी कविताओं के अतिरिक्त इन्होंने मुण्डन नाम का एक गद्य ग्रन्थ भी लिखा था, जो हिन्दी गद्य के इतिहास में अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। भाषा इसकी व्रज है। चार शिष्य वल्लभ के और चार विट्ठल के मिलकर अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनमें आगे चलकर भक्तप्रवर सूरदास सब से अधिक विख्यात हुए।

सूरदास; ज० सं० १५४० के लगभग

इनका जन्म सम्वत् लगभग १५४० था। आगरा से मथुरा जाने वाली सड़क के किनारे रुनकता नामक गाँव में ये उत्पन्न हुए थे। भक्तमाल तथा चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार ये सारस्वत ब्राह्मण थे, यद्यपि कोई कोई इन्हें चन्दबरदाई के वंशज भाट बताते हैं। सूर को जन्मांध बताने वाली किंवदन्ती असत्य है क्योंकि शृङ्गार और रङ्गरूपादि का जैसा वर्णन इन्होंने किया है, वैसा जन्मांध के लिए असम्भव है।

आचार्य वल्लभ से भेंट होने पर ये उनके शिष्य बन गये और उनकी आज्ञा से नित्य प्रति उपास्य सखा कृष्ण के विषय में पद गाने लगे, जिनका बृहत्संग्रह सूरसागर के नाम से विख्यात है। भक्ति के आवेश में आ वीणा के ऊपर गाते हुए जो सरस पद इन प्रज्ञाचक्षु के मुँह से निकल गये, वे हिन्दी साहित्य की अमर सम्पत्ति बन गये।

सूरसागर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह था, किन्तु अब तक जो प्रतियाँ इसकी मिली हैं, उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते। सूरसागर में श्रीमद्भागवत की कथा का संक्षेप है, किन्तु कृष्ण की बाललीला, उनका गोकुलत्याग और उनके प्रति गोपियों के विरह की कथा विस्तार से गाई गई हैं।

सूरसागर के पहले नौ स्कन्धों में विनय के पद, सृष्टि-क्रम, तथा चौबीस अवतारों का वर्णन, आर्यावर्त के नृपतियों का पौराणिक परिचय तथा भागवत-पुराण की आध्यात्मिक व्याख्या आदि के विषय आये हैं। दशम स्कन्ध में कृष्णजन्म से कथा आरम्भ होती है। यशोदा के घर पहुँच कृष्ण धीरे धीरे बड़े होने लगे। उस अवस्था की उनकी बाल-लीलाओं का जैसा मार्मिक वर्णन सूर ने किया है, उतना सुन्दर हिन्दी के अन्य किसी कवि ने नहीं किया। कृष्ण अभी कुछ ही महीनों के हैं, माँ का दूध पीते हैं, माँ सोचती है कि बच्चा कब बड़ा होगा, कब इसकी दँतली निकलेगी, कब यह "माँ माँ" कहकर पुकारेगा, कब घुटनियों चलना सीखेगा आदि आदि। माँ बालक को दूधी पिलाती है, वह किसी बात पर खीझ उठता है, वह उसे फुसलाती है, रात में खिले चाँद को देख उस पर लपकता है, वह उसे पानी भरी थाली में चाँद ला देती है और बालक अपने पैर का अँगूठा चूसता चूसता सो जाता है। कृष्ण बड़े हुए, ड्योढी लाँघने लगे, मणिखम्भों में अपना मुँह देख उसे पकड़ने लगे, इधर उधर जा ग्वाल-बालों में रमने लगे। अब वे कुछ सयाने हुए, लकुट कमरिया ले गौ चराने लगे, वहाँ गुल्ली-डण्डा बजता था, अट्ठारहसिंहा

खेला जाता था, खूब पिटते और पिटाते थे। बलभद्र चबाई ग्वालों को इशारा कर उन्हें तङ्ग करता था। सब कहते थे 'तू मोल लिया हुआ है; यशुमति गोरी है, नन्द गोरे हैं, तू काला उनमें कहां से आ गया' आदि। घर आकर शिकायत होती थी :—

मैया! मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मो सों कहत मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायो॥
कहा करौं एहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, कौन तुम्हारो तातु॥
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर॥
तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।

माँ ने शिकायत सुन ली। दिखावटी रिस में:—

सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही कौ धूत॥
सूर स्याम मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥

कहकर उसका मन रख लिया। माँ ने कान्हा और राम की जोड़ी बाँध दी। अगले दिन ग्वाल धनों के साथ बाहर गये। कान्हा को गौ हेरने का काम सौंपा गया और सब अठारहसिंहा खेलने बैठ गये। धन हेरते हेरते कान्हा के दम फूल गये, पाँव आ गये। साँझ को घर आ माता से शिकायत की:—

मैया! मैं न चरैहौं गाई।
सिगरे ग्वाल घिरावत मों सों, मेरे पाइ गिराई॥
जो न पत्याहि पूछ बलदाउहिं अपनी सौंह दिवाई॥

माँ ने भी रिसकर ग्वालों को गारी देते हुए कहा:—

मैं पठवति अपने लरिका को, आवे मन बहराई।
सूर स्याम मेरो अति बालक, मारत ताहि रिङ्गाई॥

कृष्ण ने शैशव छोड़ किशोरावस्था में पग धरा। अब उसकी वंशी वंशीवटों में बजने लगी। गोप-गोपिकाएँ उस पर मस्त होने लगे। यमुना-

कुञ्जों में लीला होने लगी। मक्खन की चोरी का अपराध लगने लगा। बरबस मुँह पर दही लिपटाई जाने लगी। कान्हा चोरी के अभियोग में अपनी रक्षा के लिए कहते हैं:—

मैया! मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥
देखि तूही छींके पर भाजन ऊँचे धर लटकायो।
तू ही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो॥
मुख दधि पोंछि कहत नन्दनन्दन दोना पीठ दुरायो।

अब तक की लीला में यौवन की लुनाई न थी। कृष्ण अब युवा हुए। गोपियाँ उनपर मरने लगीं। अब यमुना के तट पर रास होते हैं, उत्सव मनाये जाते हैं, उनकी मुरली चुराई जाती है, उन्हें अबीर लगाया जाता है, कभी कभी चोली भी पहना दी जाती है। वे भी किसी की वेणी गूँथते हैं, किसी की आँखें मूँदते हैं, किसी की चुन्नी उतार लेते हैं, कभी २ चीरहरण तक कर लेते हैं। संयोग के इस शृङ्गार में काम का नाम नहीं, विषय की कर्दम का लेश नहीं; प्रोलम्बणता आध्यात्मिक है, ऐंद्रिय नहीं; सख्य दैवी है, मानुष नहीं।

संयोग के उपरांत वियोग आता है। कृष्ण वृन्दावन छोड़ चले जाते हैं। वहाँ राजकार्यों में लग अपनी सखियों को भूल-सा जाते हैं। गोपियाँ विरह में विधुर हो रोती हैं:—

नैना भए अनाथ हमारे।
मदनगुपाल वहां ते सजनी, सुनियत दूरि सिधारे॥
वे जलसर हम मीन बापुरी, कैसे जिवहिं निनारे।
हम चातक चकोर स्याम घन, वदन सुधानिधि प्यारे॥
मधुवन बसत आस दरसन की, जोई नैन मग हारे।
सूरज स्याम करी पिय ऐसी, मृतकहुँ ते पुनि मारे॥

जमुना तट पर फूले फूल अब त्रिशूल बन गये। किंशुक पुष्प अँगारे दीखने लगे। कृष्ण फिर भी नहीं आते। हाँ, उद्धव को उन्हें समझाने

पठाते हैं। उद्धव वेदान्त का सार सुनाते हैं, पर गोपियों को वह नहीं रुचता। वे कहती हैं:—

ऊधो हमहिं न जोग सिखैये।
जेहि उपदेस मिलें हरि हम को सो व्रत नियम बतैये॥
मुक्ति रहौ घर बैठि आपने निरगुन सुन दुख पैये।
जेहि सिरि केस कुसुम भरि गूँथे तेहि किमि भसम चढ़ैये॥

उन्हें मुक्ति नहीं चाहिए, निर्गुण के गीत नहीं चाहिएं। वे योग की बात क्या जानें:—

ऊधो जोग जोग हम नाहीं।
अबला सार ज्ञान कहा जाने, कैसे ध्यान धराहीं॥
तू ये मूँदन नैन कहत है, हरिमूरति जा माहीं।
ऐस कथा कपट की मधुकर, हम तें सुनी न जाहीं॥
श्रवन चीर अरु जटा बँधावहु, ये दुख कौन समाहीं।
चन्दन तजि अङ्ग भसम बतावत, विरह अनल अति दाह॥

वे ही क्या, कान्हा के विरह में समस्त ब्रज क्लांत तथा म्लान हो रहा है। देखो:—

ऊधो हमहिं कहा समुझावहु?
पसु पंछी सुरभी ब्रज की सब। देखि स्रवन सुनि आवहु॥
तृन न चरत गो पियत न सुत पय, ढूँढत बन बन डोलैं॥
अलि कोकिल दै आदि विहंगम, भीत भयानक बोलैं॥
जमुन भई तन स्याम स्याम बिनु, अंध छीन जे रोगी॥
तरुवर पत्र बसन न सँभारत, विरह वृच्छ भए जोगी॥
गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यों मीन॥
सूरदास प्रभु प्रान न छूटत, अवधि आस में लीन॥

[illegible] स्वतंत्र हैं। वे चाहे जहाँ रमें। गोपियां उन्हें नहीं भूल सकती। वे उन्हें [illegible] समर्पण कर चुकी हैं:—

सब जग तजे प्रेम के नाते।
चातक स्वाति बूँद नहि छाँड़त प्रगट पुकारत ताते॥
समुझत मीन नीर की बातें, तजत प्रान हठि हारत।
जानि कुरंग प्रेम नहि त्यागत, जदपि व्याध सर मारत॥
निमिष चकोर नैन नहिं लावत, ससि जोवत जुग बीते॥
ज्योति पतंग देखि वपु जारत, भए न प्रेमघट रीते॥
कहि अलि क्यों बिसरति वे बातें, सङ्ग जो करि ब्रजराजे।
कैसे सूर स्याम हमें छाँडें, एक देह के काजे॥

कहाँ तक कहें, सूर की रचना में रस का यह आसार, मधुरता का यह पीयूष लबालब भरा पड़ा है। जिधर से देखो; गुड़ की यह डली मीठी है: यह गन्ना प्रतिपर्व रसायन है। वात्सल्य का तथा संयोग और विप्रयोगात्मक शृंगार का जैसा मर्मस्पर्शी वर्णन सूर ने किया है, वैसा हिंदी के अन्य किसी कवि ने नहीं। आत्मा की निगूढ़ अनुभूति तथा प्रेम की उत्कट पीड़ा का जैसा मार्मिक वर्णन सूर की पदावली में मिलता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। यह सच है कि जीवन के ओजस्वी तथा भावमय पक्ष का व्याख्यान सूर की रचना में यथेष्ट नहीं मिलता; यह भी सत्य है कि गोस्वामी जी के समान सूर की कविता का क्षेत्र असीम नहीं है, किंतु साथ ही यह भी ठीक है कि जीवन की ऋजु, सहज, कोमल तथा मधुर भावनाओं का जैसा रुचिर अभिव्यंजन सूर की कविता में संपन्न हुआ है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। सूर की सूक्ष्म-दर्शिता, उसकी सजीव चित्र खींचने की क्षमता, उसकी प्रतिभा का नित्य नवोन्मेष, सत्य, शिव और सुन्दर की उसकी अनूठी उद्भावना, और उसकी प्राप्ति के लिए उसकी एकांत उत्कट निष्ठा, इनमें से कोई एक तत्व भी पर्याप्त मात्रा में होने पर किसी कवि की रचना को अमर बना देने में समर्थ है, फिर इन सब के समवायभूत सूरदास के काव्य का तो कहना ही क्या।

सूर और तुलसी:—

सूर और तुलसी की काव्यशैली में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ तुलसी कविता को भावमयता में समाप्त करता है, वहाँ सूर उसमें सरलता और ऐंद्रियता का तादात्म्य कर संयोगात्मक श्रृंगार द्वारा मानवकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों का विकास करता है। तुलसा के रामवर्णन में जीवन के भीतर होने वाले भावों के उद्दंड संवर्ष हैं और उन्हें राम अपनी अदम्य शक्ति और अप्रतिम सहिष्णुता से आक्रांत करते हैं और इस प्रकार लोकोत्तर श्रद्धा के भाजन बनते हैं। परन्तु सूर के कृष्ण अपनी रुचिर वृत्तियों के निरन्तर उत्थान-पतन से यह ध्येय प्राप्त करते हैं। संक्षेप में तुलसी भावमयता से भासित हैं तो सूरदास ऐंद्रियता के आसार से सरसित हैं।

जहाँ तक व्यक्ति के अपने विकास का प्रश्न है भावमयता और ऐंद्रियता दोनों ही समान हैं। परन्तु लोकहित की दृष्टि से ऐंद्रियता से भावमयता का ही स्थान ऊँचा है क्योंकि मानवसंघर्ष में ही आत्मा सक्रिय तथा परिपूत होता है। इसी भावसंघर्ष का स्वरूप पाप-पुण्य के संघर्ष के रूप में हमें रामायण में मिलता है। इसी भावसंघर्ष में राम सीता को त्यागकर चरम कोटि का आदर्श उपस्थित करते हैं। परन्तु सूर के कृष्ण मानों अपने किसी काम के लिये उत्तरदायी ही नहीं हैं। विश्व के चराचर तत्व उनसे कहते दीख पड़ते हैं ओ, हम तुमसे प्यार करते हैं, हम तुम पर मरते हैं। बस परिपूत प्रेम में ही सूर की इतिकर्त्तव्यता है।

नन्ददास; सूरदास के समकालीन

अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास जी का नाम आता है। कहावत है 'और सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया'। ये सूरदास जी के समकालीन थे। भक्तमाल में इनके भाई का नाम चन्द्रहास लिखा है। वार्ता से इनका तुलसीदास जी का भाई होना सिद्ध होता है। रासपंचा-

ध्यायी, भ्रमरगीत, अनेकार्थमंजरी तथा नाममाला नाम की इनकी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। रासपंचाध्यायी में कृष्ण की रासलीला का अनुप्रासादियुक्त साहित्यिक भाषा में सुन्दर वर्णन है। उक्त पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने निम्नलिखित ग्रंथ और लिखे हैं।

भागवत दशम स्कंध, रुक्मिणीमंगल, रूपमंजरी, रसमंजरी, विरह-मंजरी, नामचिंतामणिमाला, अनेकार्थनाममाला, दानलीला, मानलीला, तथा श्यामसगाई। भ्रमरगीत से उदाहरण:—

जौ उनके गुन होय, वेद क्यों नेति बखानै।
निरगुन सगुन आतमा, रुचि ऊपर सुख सानै॥
वेद पुराननि खोजिकै, पायो कतहूँ न एक।
गुन ही के गुन होहि तुम, कहौ अकासहि टेक॥
सुनो ब्रजनागरी॥

जौ उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते?
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ ते?
वा गुन की परछाँह री माया दरपन बीच।
गुनतें गुन न्यारे भए, अमल वारि जल कीच॥
सखा सुनु स्याम के॥

सूर और नन्ददास ने भ्रमरगीतों का गान इसलिये किया कि निर्गुणवादी संतकवियों के ज्ञानमार्ग और निर्गुण ईश्वरवाद की अपेक्षा भक्तिवाद और साकार ईश्वरोपासना को अधिक मान्य समझा जाय। कृष्ण जब गोपियों को छोड़कर मथुरा चले जाते हैं तब वहाँ से उद्धव को उन्हें सांत्वना देने भेजते हैं। इस सांत्वना में उद्धव निर्गुण ब्रह्म की प्रशंसा करते हैं और गोपी उसका खण्डन कर सगुण कृष्ण की उपासना में रमना चाहती हैं। उद्धव संत कवियों के सिद्धांत कहते हैं और गोपियां उनका खण्डन कर वैष्णवभक्तों का पक्ष लेती हैं।

नन्ददास के भ्रमरगीत में ७५ पद्य हैं और उनकी यह रचना भागवत और सूर दोनों के भ्रमरगीतों से कुछ भिन्न है। भागवत में उद्धव के समझाने पर गोपियां मान जाती हैं पर नन्ददास की गोपियां उसके कहने को नहीं मानती। वे उसके साथ तर्क करतीं और उसे कायल कर देती हैं। सूर के भ्रमरगीत में गोपियों की विरहावस्था का सूक्ष्म विश्लेषण है पर नन्ददास के भ्रमरगीत में ज्ञान और भक्ति पर विवाद है। सूर के भ्रमरगीत में उद्धव कृष्ण का संदेश देते हैं पर नन्ददास के भ्रमरगीत में वे स्वयं उपदेश देते हैं।

कृष्णदास, अष्टछाप में—

ये वल्लभ के शिष्य और अष्टछाप में थे। शूद्र होने पर भी ये वल्लभ को प्रिय थे और उनके मंदिर के प्रमुख पुजारी थे। इनका जुगलमान चरित्र नामक ग्रंथ मिलता है। कहा जाता है कि इन्होंने भ्रमरगीत और प्रेमतत्त्वनिरूपण नाम के दो ग्रंथ और बनाये थे। उदाहरण:—

मो मन गिरधर छवि पै अटक्यो ॥
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै, चिबुक चारु गढ़ि ठटक्यो ॥
सजल स्याम-घन-बरन-लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किये प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो ॥

परमानन्ददास, सं० १६०६, अष्टछाप में—

वल्लभ के शिष्य, परमानन्द अष्टछाप में थे और संवत १६०६ के लगभग वर्तमान थे। इनका निवास-स्थान कन्नौज था, और संभवतः ये कन्नौजिया ब्राह्मण थे। इनकी अत्यंत रसमयी कविता को सुन आचार्य गद्गद हो जाते थे। इनके फुटकर पद कृष्णभक्तों के मुँह अब भी सुनने में आते हैं:—

कहा करौं बैकुंठहि जाय ?
जहँ नहिं नन्द, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी ग्वाल न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निरमल और नहीं कदमन की छाँय।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी, व्रजरज तजि मेरी जाय बलाय ॥

कुम्भनदास; अष्टछाप में—

परमानन्द के समकालीन, अष्टछाप के कवि कुम्भन धन, मान और मर्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। अकबर बादशाह से निमंत्रित हो आप सीकरी गये; किंतु वहाँ आपका मन न लगा। आप लिखते हैं :—

संतन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पनहियां टूटीं, बिसरि गयो हरि नाम ॥
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरधर बिनु और सबै बेकाम ॥

चतुर्भुजदास; कुंभन के पुत्र और विट्ठल के शिष्य

कुंभन के पुत्र, अष्टछाप के कवि चतुर्भुज ने द्वादशयश, भक्तिप्रताप, हितजू को मंगल, नाम के तीन ग्रंथ रचे थे। इनकी भाषा चलती और सुव्यवस्थित है।

उदाहरण :—

जसोदा ! कहा कहौं हौं बात ?
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहिं जात ॥
भाजन फोरि, डारि सब गोरस, लै माखन दधि खात।
जौ बरजौं तो आँखि दिखावै, रंचहु नाहिं सकात ॥ आदि ॥

छीतस्वामी; विट्ठल के शिष्य; अष्टछाप में—

विट्ठल के शिष्य, अष्टछाप के कवि छीत पहले मथुरा के संपन्न पंडा थे और राजा बीरबल जैसे लोगों के पुरोहित थे। इनके फुटकर पदों में शृंगार के अतिरिक्त ब्रजभूमि के प्रति प्रेम की भी अभिव्यंजना मिलती है।

"हे बिधना तोसों अँचरा पसारि माँगों जनम जनम दीजो याहि ब्रज बसिबो'

इन्हीं की रचना है।

गोविंदस्वामी; अष्टछाप में—

अंतरी के रहने वाले, सनाढ्य ब्राह्मण गोविंद विट्ठल से दीक्षित हो अष्टछाप में संमिलित हुए। इन्होंने गोवर्धन पर्वत पर, जहां ये रहते थे, कदम्बों की उपवनी लगाई थी, जो अब तक गोविंदस्वामी के कदम्बखंडी के नाम से ज्ञात है। कवि होने के साथ-साथ ये निष्णात गवैये भी थे।

उदाहरण :—

प्रात समय उठि जसुमति जननी गिरिधर सुत को उबटि न्हवावति।
करि सिंगार बसन भूषन साजि फूलन रचि रचि पाग बनावति॥
छुटे बन्द बागे अति सोभित, बिचबिच चोव अरगजा लावति।
सूथन लाल फूँदना सोभित,आजुकि छवि कछु कहति न आवति॥

हितहरिवंश; जन्म सं० १५५६

राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक गोसाइं हितहरिवंश का जन्म संवत् १५५६ में मथुरा से चार मील दक्षिण बादगांव में हुआ था। आप गौड़ ब्राह्मण थे। आपके पिता का नाम केशवदास मिश्र तथा माता का नाम तारावती था।

माधव और निम्बार्क मतों से प्रभावित हो हितहरिवंश ने सं० १५८२ में श्री राधावल्लभ की मूर्ति वृन्दावन में स्थापित की और ये वहीं रहने लगे। आपने राससुधानिधि और हितचौरासी नाम की दो पुस्तकें लिखीं, जिनमें पहली संस्कृत में है। इनके अतिरिक्त आपके उद्‌भट पद्य भी मिलते हैं। आपके मत में राधा रानी हैं और कृष्ण उनके दास हैं; राधा की उपासना से कृष्ण का प्रसाद प्राप्त होता है।

हरिदास; कविताकाल १६००–१६१७

निम्बार्क शाखा के वैष्णव, हरिदास परम भक्त, सुकवि तथा संगीत कला में प्रवीण थे। तानसेन इन्हें अपना संगीत-गुरु मानते थे और स्वयं

अकबर आपका संगीत सुनने को लालायित रहते थे। आपके फुटकर पद्य गाने के उपयुक्त होने पर भी पढ़ने में सुखद नहीं प्रतीत होते।

गदाधर भट्ट; रचनाकाल, सं० १५८०–१६००

गदाधर दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनके जन्मसंवत् आदि का कुछ पता नहीं। जो स्वामी के उपदेश से ये वृन्दावन जाकर चैतन्य महाप्रभु के (सं० १५४२–१५८४) शिष्य हुए। आप संस्कृत के चूडांत पंडित थे; इससे गोस्वामी तुलसीदास जी के समान आपकी रचनाओं में भी संस्कृत के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है।

उदाहरण:—

जयति श्रीराधिके, सकल-सुख-साधिके,
तरुनि-मनि नित्य नव-तन-किसोरी।
कृष्ण-तन लीन-मन, रूप की चातकी,
कृष्ण-मुख-हिम-किरण की चकोरी॥ आदि

× × × ×

झूलति नागरि नागर लाल।
मंद मद सब सखी झुलावति, गावति गीत रसाल॥
फरहरात पट पीत नील के, अंचल चंचल चाल।
मनहुँ परस्पर उमगि ध्यान-छवि प्रकट भई तिहि काल॥ आदि

मीराबाई; जन्म सं० १५७३

ये मेड़तिया के राठौड़ रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदा जी की पौत्री, और जोधपुर बसाने वाले प्रसिद्ध राव जोधा जी की प्रपौत्री थीं। इनका जन्म संवत् १५७३ में, चोकड़ी नाम के एक गाँव में हुआ था। विवाह इनका उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज के साथ हुआ था। पति के मरणोपरांत मीरा ने चितौड़गढ़ त्याग स्वामी रामानन्द के शिष्य भगत रयदास से भक्तिधर्म की दीक्षा ले सर्वात्मना कृष्ण के रणछोड़

नामक रूप की आराधना आरंभ कर दी। मीरा अपनी भावप्रवण उत्कट भक्ति के कारण उत्तर भारत के प्रधान भक्तों में हुईं और इनका गुणगान नाभा जी, ध्रुवदास, व्यास जी, मलूकदास आदि अनेक भक्तों ने किया है। इनके कुछ पद तो राजस्थानी मिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में। पर सब में प्रेम की पीर एकरूप से पाई जाती है। आपकी रचना के उदाहरण :—

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहनी मूरत साँवरी सूरत नैना बने बिसाल।
अधर-सुधा-रस मुरली राजति उर बैजंती माल॥
छुद्र घंटिका कटि-तट सोभित नूपुर-शब्द रसाल॥
मीरा प्रभु संतत सुखदाई, भगत बछल गोपाल॥

मधुमास में जब कि सर्वत्र आनन्द की बहार आ रही है, लतावल्लरियाँ फूलों से झुक गई हैं, अमराइयों में से मंजरी की महक आकर हृदय की कली को खिला जाती है और मलयानिल के प्रवाह से चारों ओर की प्रकृति हावपूर्ण, मदाकुल तथा प्रेमोन्मत्त बन रही है, तब भी संवेदन शील मीरा को :—

सूनो गाँव देस सब सूनो सूनी सेज अटारी।
सूनी बिरहिन पिव बिन डोलै तज गई पीव पियारी॥
देस बिदेस सँदेस न पहुँचै हो अंदेसा भारी।
गिणता गिणता घिस गई रेखा अंगरिया की सारी॥

पतिप्रेम के रूप में ढले हुए भक्तिरस ने मीरा की संगीतधारा में जो दिव्य रस घोला है, वह उसकी रहस्योन्मुख भावनाओं में और भी अधिक मादक बन जाता है :—

ऊँची अटरिया, लाल किंवड़िया, निर्गुन सेज बिछी।
पँचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली।
बाजूबंद कडूला सोहै मांग सिंदूर भरी।

सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भली ।
सेज सुखमणाँ मीरा सोवै सुभ है आज घड़ी ॥

काव्य और प्रेम दोनों नारीहृदय की संपत्ति हैं। काव्य का परम उत्कृष्ट एवं निखरा हुआ रूप नारीहृदय में अंकुरित, पल्लवित तथा पुष्पित होता है। मीरा की अमोल रचना इस बात का उत्तम निदर्शन है।

सूरदास मदनमोहन; रचनाकाल सं० १५६०---१६००

अकबर के समय में संडीले के अमीन कवि मदनमोहन जाति के ब्राह्मण तथा चैतन्य-संप्रदाय के वैष्णव थे। स्वभाव ही से ये फक्कड़ थे। एक बार ख़ज़ाने में बत्तीस हज़ार रुपये आये, जो सब इन्होंने साधु-संतों की सेवा में व्यय कर दिये और अकबर को यह लिखकर :—

तेरह लाख संडीले आए, सब साधुन मिलि गटके ।
सूरदास मदनमोहन, आधी रातहिं सटके ॥

आप वन को चले गये। अकबर ने उन्हें क्षमा कर दिया। पर ये विरक्त ही बने रहे। इनकी कविता रसीली होती थी :—

मधु के मतवारे स्याम ! खोलो प्यारे पलकैं ।
सीस मुकुट लटा छुटी और छुटी अलकैं ॥
सुर नर मुनि द्वार ठाढ़े, दरस हेतु कलकैं ।
नासिका के मोती सोहै, बीच लाल झलकैं ॥ इत्यादि

श्री भट्ट; जन्म सं० १५६५

ये निम्बार्क-संप्रदायी प्रसिद्ध विद्वान् केशव काश्मीरी के पट्ट शिष्य थे। इनकी कविता चलती सीधी-सादी भाषा में है। इन्होंने अधिक नहीं लिखा पर जो कुछ लिखा है, चुटीला लिखा है। इनका युगल-शतक

नाम का सौ पदों का ग्रंथ कृष्णभक्तों में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इनकी आदिवानी भी अच्छी रचना है।

उदाहरण :—

व्रजभूमि मोहनी मैं जानी।
मोहन कुंज, मोहन वृंदावन, मोहन जमुना-पानी॥
मोहन नारि सकल गोकुल की, बोलति अमरित बानी।
श्रीभट के प्रभु मोहन नागर, मोहनि राधा रानी॥

व्यास जी; सं० १६२० के लगभग

ओरछा के रहने वाले, सनाढ्य शुक्ल ब्राह्मण हरिराम व्यास ओरछा-नरेश मधुकर शाह के राजगुरु थे और हितहरिवंश से दीक्षा लेकर राधा-वल्लभी हो गये थे।

इनका कालसंवत् १६२० के लगभग है। हित जी से दीक्षा लेकर जब आप वृंदावन में ही रह गये; तब महाराज मधुकरशाह इन्हें ओरछा लिवा लेने आये; पर आपने यह कहकर जाने से मना कर दिया :—

वृंदावन के रूख हमारे मात पिता सुत बंध।
गुरु गोविंद साधु गति मति सुख, फल फूलन की गंध॥
इनहिं पीठ दै अनत डीठि करै सो अंधन में अंध।
व्यास इनहिं छोड़ै और छुड़ावै ताको परियो कंध॥

तत्त्वज्ञानी पंडित होने के कारण इन्हों ने ज्ञान, वैराग्य और भक्ति पर लिखते हुए भी कृष्ण की शृंगारलीला और संसार का अच्छा चित्र खींचा है। इनकी रचनाओं में रासपंचाध्यायी प्रसिद्ध है।

रसखान; रचनाकाल सं० १६४० के उपरांत

दिल्ली के पठान सरदार, प्रेमवाटिका तथा सुजानरसखान के रचयिता प्रसिद्ध मुसलमान कवि रसखान आरम्भ से ही बड़े प्रेमी जीव थे, और पहले एक बनिये के लड़के पर आसक्त थे। इनकी यही आसक्ति आगे

चलकर गोसाईं विट्ठलनाथ जी से दीक्षा लेने पर अत्यंत गूढ़ भगवद्भक्ति में परिणत हुई।

इनका रचनाकाल सं० १६४० के उपरांत है। प्रेमवाटिका का रचनाकाल संवत् १६७१ है।

आप विधर्मी होते हुए भी व्रज की अनुपम मधुरिमा पर मुग्ध और कृष्ण की ललित लीलाओं पर लट्टू थे। जाति-पांति के बंधनों के बहुत ऊपर जो विशुद्ध प्रेम का सात्त्विक आसार है, रसखान उसी में आमूल-चूल पगे थे। उनकी रचनाओं में व्रजभाषा का सरस और सानुप्रास प्रवाह मनोहर बह रहा है। खुसरो, कबीर तथा जायसी आदि की भांति ये बाह्य जगत् के अस्थायी विडम्बनों में न फँसकर कृष्ण की सगुणोपासना में लीन हुए और आजीवन हिंदी की सेवा करते करते गोलोकवासी हुए थे।

आपका गोकुलप्रेम वर्णनीय है :—

मानुष हौं तो वही रसखान बसो सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर-धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदि कूल कदम्ब की डारन॥

ध्रुवदास, रचनाकाल सं० १६६०-१६७०

ये स्वप्न में हित जी के शिष्य हुए थे। इसके सिवाय इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनकी रचना अत्यन्त विस्तृत है। छोटे मोटे सब मिलाकर इनके चालीस ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं, जिनमें से नेहमंजरी का उद्धरण नीचे दिया जाता है :—

प्रेम बात कुछ कही न जाई। उलटी चाल तहाँ सब भाई॥
प्रेम बात सुनि बौरो होई। तहाँ सयान रहै नहीं कोई॥
तन, मन, प्रान तिही छिन हारै। भली बुरी कछु वै न विचारै॥
ऐसो प्रेम उपजिहै जब हीं। हित ध्रुव बात बनैगी तब हीं॥

उपसंहार

सूरदास ने जब रचना आरंभ की तब हिंदी को उत्पन्न हुए ७०० के लगभग बरस हो चुके थे। इस व्यापक काल में लगभग सवा-सौ कवि हुए जिनमें चंदबरदाई, खुसरो, कबीर, विद्यापति तथा तुलसी ही प्रथम श्रेणी के थे।

सूर की रचनाओं में जो भगवत् के प्रति तल्लीनता है उसी ने उन की रचना में भावावेश किया और उसे अमर बनाया। इष्टदेव के प्रति भक्ति-भावना और तल्लीनता के कारण सूरदास और उनके साथी कवि-गणों ने व्रजभाषा को मुखरित कर दिया और वह सहज ही मुग़ल दरबार की साहित्यिकभाषा बन गई। बादशाहों तक ने उसका आंचल पकड़ा और उसमें रचना की। फैजी अब्दुल फ़ज़ल, बीरबल, टोडरमल आदि ने उसमें कविताएं लिखीं। सूरदास ने पदों में लिखने की रीति चलाई। कविता के प्रति आदरभाव यहां तक बढ़ा कि स्वयं वल्लभाचार्य, हितजी, हरिदासजी तथा विट्ठलदासजी कविता करने लगे। देश में कृष्ण-लीला, रास और रामलीला का चलन पड़ा और व्रजभाषा को प्रांत की भाषा के स्थान से बढ़कर राष्ट्रभाषा का ओहदा मिला।

जहां भक्तवत्सल गोस्वामी तुलसीदास ने लोकपक्ष तथा अध्यात्म-पक्ष दोनों का उचित संरक्षण करते हुए स्वांतःसुखाय अपनी व्यापक रचना की थी, वहाँ सूरदास आदि कृष्णसंप्रदायी कवियों ने लोकपक्ष पर पर्याप्त ध्यान न देते हुए, केवल अध्यात्मपक्ष की परिपुष्टि के लिए विपति-बिदारनहार जदुपति के स्तोत्र गाये। जिस वृंदावन के सघन कुंजों में बारह मास मादक वसंत बसा रहता है, जहाँ प्रगल्भा प्रकृति सुंदरी ने अपने षोडश शृंगार की अशेष सामग्री संपुटित कर दी है, जहाँ शृंगार और शांतरस के रुचिर संमिश्रण में प्रभातप्रभा प्रेमपथिकों को जगाती है, उस वृंदावन में निवास करते हुए, कालिंदी के मनोहारी कलकल मर्मर रव को सुनते हुए कृष्ण-भक्त कवियों ने वहां के सघन कुंजों की हरी हरी घटा

का, बादलों की श्याम, रूपलावण्य की लोनी, प्रेम की मादक, बने-ठने गोपों की इठलाती, और रंगीली गोपियों की चितचोर घटा का जो रसपूर्ण वर्णन किया है; वह हिंदी साहित्य में सचमुच अनुपम है और उससे तत्कालीन आर्त हिंदू समाज का ध्यान संसार के झंझटों से हटकर अध्यात्मपक्ष की ओर गया भी भरपूर; किंतु इन प्रेमसिक्त सूक्तियों से उस समय के पादाक्रांत समाज की विधर्मियों से रक्षा हुई, अथवा उनके मन में राष्ट्रीय भावों की जागृति होकर कृष्ण की रासस्थली वृंदावन भूमि को विधर्मियों के पंजे से मुक्त कराने के भाव उत्पन्न हुए, इस बात में संदेह है। हां, इन कवियों की विशद तथा प्रगल्भ रचनाओं से व्रजभाषा की उत्तरोत्तर उन्नति हुई और हिंदी साहित्य की कलेवर वृद्धि के साथ साथ उसकी श्रीवृद्धि भी भरपूर हुई।

———

अध्याय ६

मध्ययुग

अकबर के युग की स्फुट रचनाएँ

देशमें मुसलमान विजेता के रूप में आए। उन्होंने शनैः शनैः सारे देश को जीत लिया और वे यहीं के बन यहां शासन करने लगे। हिन्दू कुछ भय से, कुछ प्रेम से और कुछ लालच से और कुछ देश में शांति स्थापित करने के उद्देश्य से मुसलमानों का साथ देने लगे। मुसलमानों ने उन्हें शासन में स्थान दिया और उनके साहित्य तथा उनकी सभ्यता और संस्कृति को परिवर्तन करके अपनाया।

बादशाहों के दरबारों में हिन्दू कवियों ने शरण ली और दरबारी वातावरण में जैसी भी कविता बन सकती है रची। किन्तु कबीर, जायसी, सूर और तुलसी दरबारों की धाक से दूर थे। उन्होंने स्वतन्त्र वातावरण में साहित्य-सृजन किया और हिन्दी की श्रीवृद्धि की।

हिन्दू-मुसलिम एकता ने केवल भाषा ही नहीं अपितु अन्य क्षेत्रों में भी एक नवीन संकलनात्मक सभ्यता और संस्कृति का शिलान्यास किया जो न हिन्दू थी, न बौद्ध और न मुसलिम किन्तु थी शुद्ध भारतीय, जिस में एक देश, एक भाषा और एक राष्ट्रीय राज्य की झलक थी।

और जब भारत के मुसलिम प्रांतपति विविध प्रांतों की देशी भाषाओं को उत्साह देते हुए उनमें उच्च साहित्य का सृजन करवा रहे थे तब भारत के केन्द्र में सम्राट् अकबर भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी को शृङ्गार और चमत्कार दे रहे थे।

सम्राट् अकबर दिगंतविजयी होने के साथ साथ नीतिनिपुण, दूरदर्शी शासक था और स्वयं रससिद्ध कवि होने के कारण अपने दरबारी कवियों को साहित्य, सङ्गीत और कला आदि की उन्नति में प्रोत्साहित करता था। चलती व्रजभाषा में उसकी रचना मार्मिक होती थी, और सामान्य हिन्दी भाषा पर उसका अच्छा आधिपत्य था। फलतः उसके राजत्वकाल में केवल कृष्णभक्ति कविता का ही अभ्युत्थान नहीं हुआ, अपितु अन्य विषयों से सम्बन्ध रखने वाली कविता को भी अच्छी प्रगति मिली। वीर, शृङ्गार और नीति की उद्भट रचनाओं का पुनरुत्थान हुआ और दरबारी कवियों में संस्कृत के रीतिमार्ग का अनुसरण कर केवल कलापक्ष के परिपोष के लिए कविता करने की परिपाटी चली। पहली श्रेणी के प्रतिनिधि-कवि रहीम, गंग और नरहरि आदि थे और दूसरी के महाकवि केशव आदि। किन्तु इन सब कवियों की रचनाओं के अंतस्तल में भक्ति का सामान्य स्रोत पूर्ववत् बहता रहा।

रहीम; १६१०–१६८२

अकबर के दरबारी कवियों में सबसे प्रवीण हिन्दी कवि अब्दुल रहीम खानखाना थे। ये सम्राट् अकबर के शिक्षक बैराम खाँ के पुत्र थे, जिनकी सहायता से अकबर को छोटी अवस्था में राजगद्दी मिली थी। इनका जन्म संवत् १६१० में लाहौर में हुआ था। ये अकबर के प्रधान सेनापति, मंत्री और उसके नवरत्नों में एक थे। अकबर की मृत्यु के उपरांत ये जहाँगीर के दरबार में रहे। जहाँगीर ने इनके साथ अनुचित व्यवहार किया, यहां तक कि राजद्रोह के अभियोग में इन्हें कैद भी कर डाला। इनके सब पुत्रों की मृत्यु इनके जीवनकाल में ही हो गई थी; फलतः इनका अंतिम जीवन कष्टों में बीता। संवत् १६८२ में रहीम ने इस संसार को छोड़ा।

रहीम संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के पूर्ण पंडित थे और हिन्दी के मर्मज्ञ कवि थे। दान और परोपकार में ये अपने समय के कर्ण थे। आपने सब भाषाओं में कविता की है। फ़ारसी में बाबर का चरित्र और

एक दीवान, तथा संस्कृत में खेटकौतुकम् नामक ज्योतिषग्रंथ के अतिरिक्त आपने रहीम सतसई, बरवै नायिकाभेद, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी, शृङ्गारसोरठा और नगरशोभावर्णन नामक ग्रंथ हिन्दी में लिखे हैं।

आपका व्रज और अवधी—पश्चिमी और पूरबी—दोनों काव्य-भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था। उदाहरण के लिए :—

लहरत लहर लहरिया अजब बहार।
मोतिन जरी किनरिया बिथुरे बार॥
जस मदमातल हथिया हुमकत जात।
चितवत जात तरुनिया मन मुसकात॥

उक्त पद्य में पूरबी शब्दों की लड़ी अच्छी बँधी है।

बदन सों जान पहचान कै रहीम कहा,
जो पै करतार ही न सुखदेनहार है।
सीतहर सूरज सों नेह कियो या ही हेत,
ता हू पै कमल जारि डारत तुषार है॥
छीरनिधि माहिं धस्यो, संकर के सीस बस्यो,
तऊ ना कलंक नस्यो, ससि में सदा रहै।
बड़ो रिझवार या चकोर-दरबार है, पै
कलानिधि-यार तऊ चाखत अङ्गार है॥

ऊपर के पद्य में व्रजभाषा का निखरा हुआ रूप है।

गंग; अकबर के दरबारी श्रेष्ठ कवि

गंग अकबरी दरबार के श्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं। इन्होंने शृङ्गार और वीर रस की श्रेष्ठ कविता की है। इनकी वाग्विदग्धता तथा भाषाधिकार को देख कहावत चल पड़ी थी कि:—

तुलसी गंग दुवौ भये, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिले, भाषा विविध प्रकार॥

कहा जाता है कि गंग किसी राजा या नवाब के कोपभाजन बनकर हाथी से कुचलवा डाले गये थे।

कहते हैं कि रहीम खानखाना ने इन्हें निम्नलिखित छप्पय पर छत्तीस लाख रुपये पुरस्कार रूप में दिये थे:—

चकित भँवर रहि गयो, गमन नहिं करत कमल बन।
अहिफन मनि नहिं लेत, तेज नहि बहत पवन घन॥
हंस मानसर तज्यो, चक्क चक्की न मिलै अति।
बहु सुंदरि पद्मिनी पुरुष न चहैं, न करैं रति॥
खलभलित सेस कवि गंग मन, अमित तेज रविरथ खस्यो।
खानानखान बैरम-सुवन जबहिं कोध करि तँग कस्यो॥

नरहरि; सं० १५६२–१६६७

असनी-फतेहपुर के निवासी कवि नरहरि का अकबर आदर करते थे। इन्होंने इनकी कविता पर प्रसन्न हो इन्हें महापात्र की उपाधि से विभूषित किया था। इनके तीन ग्रंथ हैं—रुक्मिणीमंगल, छप्पयनीति तथा कवित्त-नीति। इनके निम्नलिखित छप्पय को सुनकर अकबर ने अपने राज में गोवध बंद करा दिया था:—

अरिहु दंत तिनु धरै ताहि नहि मारि सकत कोइ
हम संतत तिनु चरहिं, वचन उचरहिं दीन होइ॥
अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छ महि थंभन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियवहिं॥
कह कवि नरहरि अकबर सुनो बिनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत मुएहु चाम सेवइ चरन॥

बीरबल

तिकवाँपुर में उत्पन्न हुए कवि बीरबल अकबर के मंत्रियों में थे और अपनी वाक्‌चातुरी तथा विनोद के लिए विख्यात थे। इनके और अकबर के बीच होने वाले चुटकुले उत्तर भारत के गाँव गाँव में प्रसिद्ध हैं।

टोडरमल; सं० १५८०–१६४६

जाति के खत्री कवि टोडरमल पहले शेरशाह के यहाँ उच्च पद पर थे; पीछे से अकबर के यहाँ आकर भूमिविभाग के मंत्री हुए। इन्होंने शाही दफ्तरों में हिंदी के स्थान पर फ़ारसी का प्रचार किया, जिससे हिंदुओं का झुकाव फ़ारसी की शिक्षा की ओर गया। महाराज टोडरमल के नीतिसंबंधी कवित्त प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना का उदाहरण:—

जार को विचार कहा, गनिका को लाज कहा,
गदहा को पान कहा, आँधरे को आरसी॥
निगुनी को गुन कहा, दान कहा दारिद को,
सेवा कहा सूम की, अरंडन की डार सी॥
मदपी को सुचि कहा, साँच कहा लंपट को,
नीच को बचन कहा, स्यार की पुकार सी॥
टोडर सुकवि ऐसे हठी तौ न टारे टरैं,
भावै कहौ सूधी बात भावै कहौ फ़ारसी॥

टोडर के अतिरिक्त होलराय तथा मनोहर आदि कवि भी अकबर के दरबार में थे। इनकी रचना सामान्य कोटि की है।

बलभद्र मिश्र; सं० १६०१

ये ओरछा निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका 'नखशिख' शृंगार का अच्छा ग्रन्थ है। ये केशव के समकालीन थे। इन्होंने नायिका के अङ्ग-वर्णन को स्वतन्त्र विषय माना है। रचना इनकी प्रौढ़ और परिमार्जित है। गोपाल कवि ने इनके 'नखशिख' पर सन् १८३५ में एक टीका लिखी थी। उन्होंने इनके तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है, बलभद्री व्याकरण हनुमन्नाटक और गोवर्धन सतसई। इनकी 'दूषण विचार' नामक पुस्तक प्राप्य है।

बनारसीदास; जन्म सं० १६४३

खड्गसेन के पुत्र, जौनपुर के रहने वाले जौहरी बनारसीदास संवत्

१६४३ में उत्पन्न हुए थे। ये जैन थे, युवावस्था में इन्होंने शृङ्गार रस की कविता की थी, किंतु पीछे से धार्मिक आवेश में आकर इन्होंने अपनी वह कविता गोमती नदी में प्रवाहित कर दी थी। इनकी पिछली कविता नीति और ज्ञान से भरी हुई है। इनके रचे ग्रन्थों में बनारसीविलास, नाटक-समयसार, नाममाला, अर्धकथानक, बनारसीपद्धति, मोक्षपदी, ध्रुववंदना, कल्याणमंदिरभाषा, वेदनिर्णयपंचाशिका तथा मार्गनविद्या आजकल मिलते हैं।

सेनापति; जन्म सं० १६४६

अनूपशहर निवासी, कान्यकुब्ज ब्राह्मण कवि सेनापति के पिता का नाम गङ्गाधर, पितामह का परशुराम और गुरु का नाम हीरामणि दीक्षित था। आपका जन्म संवत् १६४६ में हुआ था।

आपकी कविता मर्मस्पर्शिणी और रचना अत्यन्त प्रौढ़ तथा प्रांजल है। जैसे एक ओर आप में भावुकता थी, वैसे ही दूसरी ओर रचना में चमत्कार उत्पन्न करने की निपुणता भी थी। आपका ऋतुवर्णन हिन्दी साहित्य में अपूर्व है।

वृष को तरनि, तेज सहसौ करनि तपै।
ज्वालनि के जाल बिकराल बरसत है॥
तचति धरनि, जग झुरत झुरनि सीरी।
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत है॥
सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत।
धमका विषम जो न पात खरकत है॥
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहू।
घरि एक बैठि कहूँ घामै बितवत है॥

नरोत्तमदास; सं० १६०२ में वर्तमान

ये सीतापुर ज़िले के बाड़ी नामक कसबे के रहने वाले थे। इसके सिवाय इनके चरित्र के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। इनका सुदामाचरित

अत्यन्त सरस तथा हृदयग्राही सम्पन्न हुआ है। इसकी भाषा परिमार्जित तथा नियंत्रित है। सुदामाचरित का निम्नलिखित सवैया बहुत लोगों के मुँह सुनाई पड़ता है :—

सीस पगा न झगा तन में, प्रभु ! जानै को आहि, बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी, लटी दुपटी अरु पायँ उपानह को नहिं सामा ॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा ॥

उपसंहार

भक्तिकाल को हिन्दी काव्य का स्वर्णयुग बताया जाता है। इसी काल में कबीर तथा उसके अनुयायी सन्तों की अमर वाणी प्रस्फुटित हुई थी। इसी में महाकवि जायसी ने अनिर्वचनीय की धुँधली झाँकी में स्निग्ध विस्मय तथा औत्सुक्य उत्पन्न कर प्रस्तुत लोकविभूति में अप्रस्तुत रहस्य का अभिव्यञ्जन किया था। इसी में तुलसी तथा सूर ने अपनी शीलमयी, सौंदर्यमयी तथा शक्तिमयी लोकोत्तर रचनाओं से आर्त भक्तों को भगवान् के लोकरक्षक तथा लोकरंजन रूप के दर्शन कराये थे। इसी युग में मीरा जैसी भावप्रवण ललनाओं ने प्रेम की पीर से परिपूत हो आत्मा की निगूढ़ अनुभूति का रुचिर प्रदर्शन किया था। इनके अतिरिक्त इस युग के और कवियों ने भी जगत् की विघ्नबाधा, अत्याचार तथा हाहाकार से प्रभावित न हो अपने मधुर गीतों से जनता के हृदय की कोमल तन्त्रियों को मुखरित किया था। किन्तु इस प्रकार के कवियों का राजदरबारों के साथ क्रियात्मक सम्बन्ध न था।

कुछ ऐसे कवि भी थे; जिन्होंने दरबारों का आश्रय लेकर भी अपनी प्रतिभा को अक्षुण्ण बनाये रक्खा और जनता के कल्याण और आत्म-सन्तोष के लिए मधुर रचनाएँ कीं। इस श्रेणी के कवियों में सेनापति का नाम उल्लेख-योग्य है।

अध्याय १०

मध्ययुग : रीतिमार्गी कवि

हिन्दी के भक्तियुग को स्वर्णयुग बनाने वाले कवि कबीर, जायसी, तुलसी और सूर ने जो कुछ रचा था, वह लोकरक्षण और लोकरंजन को दृष्टि में रखते हुए स्वान्तःसुखाय रचा था। उनकी कविता उनके रससिक्त हृदय का आसार था, उनकी प्रखर प्रतिभा का पुण्य प्रसाद था। जीवन के चरम तथ्य का अनुभव करते हुए इन कवियों ने अपनी वीणा पर जो कुछ भी गाया, उसमें व्यापक जीवन के असीम सौंदर्य का आभास था; इस सौंदर्य को मनोहारी बनाने के लिये शब्दजाल तथा अलंकारों के मुलम्मे की अपेक्षा न थी, उसे अपने आभास के लिए नायक-नायिकाओं के भेद-विभेद की और अपने उद्दीपन के लिये, शैल षड्-ऋतु-वर्णन आदि की आवश्यकता न थी। असीम सौंदर्य की अभिव्यक्ति, व्याख्यान के इन परिमित उपकरणों के द्वारा असंभव थी।

इसी युग में कवियों की एक श्रेणी वह थी, जो राजदरबारों में रहती थी और जिन्होंने तत्कालीन नरपतियों के भोगविलास की परितृप्ति तथा अनुमोदन के लिए कृष्ण एवं गोपियों के रासरमण की ओट में विषय-वासना की अगणित नालियां प्रवाहित कर दी थीं। व्रज के जो कलित कुंज, ललित लताएँ और विकच कालिंदीकूल सूर की सूक्तियों में कृष्ण और राधा की रासलीला के क्षेत्र थे, वे संकुचित मनोवृत्ति वाले इन कवियों की कृतियों में नागरिक नायक-नायिकाओं के कलुषित अभिसार के अड्डे बन गए। इस श्रेणी के कवियों की कृतियों में आत्मिक प्रसाद का परिपाक नहीं, अपितु विषयवासना की धूम्ररेखा लहराती दीख पड़ती है।

ऊपर बताई गई दोनों श्रेणियों के मध्य कवियों की एक तीसरी श्रेणी भी थी, जिसका लक्ष्य भक्तकवियों की भांति उच्चतम तो न था किन्तु उनकी दृष्टि गृहस्थ जीवन के सुख-सौंदय की मधुरता पर टिक गई थी। ये कवि सौंदर्य के चितेरे थे, किन्तु इनका सौंदर्य रीति तथा कला के पाशों में जकड़ा जाने के कारण भौतिक बन गया था, उसकी आत्मिक पवित्रता जाती रही थी। ये कवि सौंदर्य के अगाध सर में पूरे न पगे थे। इन्होंने उसके घाटों पर, किनारों पर बैठकर ही उसकी रुचिरता का साक्षात्कार किया था। प्रस्तुत अध्याय में इस श्रेणी के कवियों का वर्णन किया जायगा।

केशवदास, सं० १६१२-१६७४

आचार्य केशवदास सनाढ्य कुलोद्भव पंडित काशीनाथ के पुत्र थे। ये ओड़छा के निवासी थे और नृपमणि मधुकरशाह के पुत्र, दूलहराव के भाई इंद्रजीत के आश्रित थे। इनका जन्म संवत् १६१२ में और मृत्यु संवत् १६७४ में बताई जाती है।

केशव जी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे, अतः तत्कालीन शास्त्रीय पद्धति से हिन्दी में साहित्यचर्चा का प्रचार करने की प्रवृत्ति इनकी स्वाभाविक थी।

यद्यपि तुलसीदास जी के समकालीन होने तथा रामचन्द्रिका आदि रामभक्ति के ग्रंथ लिखने के कारण इन्हें कोरा रीतिवादी नहीं कहा जा सकता, तथापि पिछले काल के अलंकार-प्रधान संस्कृत साहित्य का इन पर इतना गहन प्रभाव पड़ा कि ये भक्तिधारा को छोड़ चमत्कारवादी कवि बन गये और अपनी इस प्रवृत्ति के कारण हिंदी में रीति-ग्रंथों की परंपरा के आदि आचार्य कहलाये। ये दंडी और रुय्यक आदि अलंकारवादी आचार्यों के पीछे चलते थे और अन्त में अलंकार ही को काव्य की आत्मा मानने लगे थे।

इनकी कृतियों में कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका मुख्य हैं। इन कृतियों में ये हमारे सामने कवि और आचार्य दोनों रूपों में आते हैं। आचार्य की दृष्टि से केशव ऊँची कोटि के हैं, और काव्य में बाह्य कला की दृष्टि से उत्कृष्टता लाने के जितने कृत्रिम साधन हो सकते हैं उन सबको जोड़ने का उन्होंने सफल प्रयत्न किया है।

किंतु कवित्व की दृष्टि से केशव का स्थान बहुत ऊँचा नहीं है। इनकी कविता को पढ़कर पाठक का संसार के साथ रागात्मक सम्बन्ध नहीं उत्पन्न होता। उनकी रचना में फर्मायशीपन की बू आती है। मनुष्य जीवन के व्याख्यान में तो वे किसी सीमा तक सफल हुए भी हैं, परन्तु प्रकृति के जितने भी वर्णन उन्होंने किये हैं, वे नीरस तथा उतारे-से प्रतीत होते हैं। प्रकृति के सौंदर्य से उनका हृदय प्लावित नहीं होता, उसकी मूक भारती उनके कानों तक नहीं पहुँचती। उनके हृदय में वह गरिमा नहीं, जो प्रकृति में भी मनुष्य के सुख दुख के लिए समवेदना ढूँढ लेती है। इनके लिए फूल निरुद्देश्य खिलते हैं, सरिताएं निरर्थक बहती हैं और समीर वृथा सनसनाता है। इनकी रचना पढ़ते चले जाइए, आद्योपांत इनका वर्णन चमत्कारपूर्ण मिलेगा। इनकी कविता इनके मस्तिष्क की उपज है, उसमें हृदय की भावुकता नहीं है।

हाँ, वैभव और तेज-प्रताप के वर्णन में इन्हें चोखी सफलता मिली है। नीचे दिये पद्य में इन्होंने रणभूमि का वर्णन नदी के साथ सांगरूपक बाँधकर किया है:—

पुंज कुंजर सुभ्र स्यंदन, सोभिजै सुठि सूर।
ठेलि ठेलि चले गिरीसनि पेलि सोनित पूर॥
ग्राह तुंग तुरंग कच्छप चारु चर्म विसाल।
चक्र से रथचक्र पैरत वृद्ध गृद्ध मराल॥
केकरे कर बाहु मीन गयंद सुंड भुजंग।
चीर चौर सुदेस केस सिवाल जानि सुरंग॥

वालुका बहु भांति हैं मनिमाल जाल प्रकास।
पैरि पार भये ते द्वै मुनिपाल केसवदास॥

श्रीराम की चतुरंग चमू का वर्णन भी चुटीला है:—

राघव की चतुरंग-चमू-चय,
को गनै केशव राज समाजनि।
सूर तुरंगन के उरझैं पग,
तुंग पताकन की पट साजनि॥
टूटि परैं तिन ते मुकता,
धरनी उपमा बरनी कविराजनि।
बिन्दु किधौं मुख फेनन के,
किधौं राजसिरी स्रवै मंगललाजनी॥

भाषा केशव की ब्रज है, किंतु उसमें श्लेषादि अलंकारों का प्राधान्य होने के कारण इन्हें संस्कृतपदावली का आश्रय अधिक लेना पड़ा है। इनकी भाषा में बुंदेलखण्डी शब्द भी दीख पड़ते हैं।

चिंतामणि त्रिपाठी, जन्म सं० १६६६, कविताकाल १७७० के आसपास

चिंतामणि, भूषण, मतिराम तथा जटाशंकर चारों भाइयों में पहले तीन हिंदी कविताक्षेत्र में अत्यंत यशस्वी हुए। ये कान्य-कुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। चिंतामणि का जन्म सं० १६६६ के निकट और कविताकाल १७७० के आसपास बैठता है। इन्होंने काव्यविवेक, कविकुलकल्पतरु और काव्यप्रकाश नाम के तीन ग्रंथ लिखे। छन्दविचारनाम का पिंगल ग्रंथ भी इन्होंने लिखा है। इनकी कविता का उदाहरण:—

इक आजु मैं कुंदन बेलि लखी मनि मंदिर की रुचिवृंद भरैं।
कुरविन्द को पल्लव इंदु तहाँ अरविन्दन तें मकरंद झरैं॥

उत बुंदन के मुकतागन है फल सुंदर द्वै पर आनि परैं।
लखि यों दुति कंद अनंद कला नँदनंद सिला द्रव रूप धरैं॥

"चिन्तामणि की रीति-रचना के सम्बन्ध में सबसे महत्व की बात यह है कि महाकवि आचार्य केशवदास ने हिंदी में जिस अलंकार संप्रदाय का सृजन किया था, उसे छोड़कर इन्होंने सुंदर रसपूर्ण रचना की, जिसमें अलंकारों को उपयुक्त स्थान दिया गया।" इस दृष्टि से ये हिंदी के रीतिसंप्रदाय के प्रायः सर्वप्रथम कवि ठहरते हैं।

बिहारी; जन्म सं० १६६० के लगभग; मृत्यु सं० १७१९ के लगभग

ये माथुर चौबे थे और इनका जन्म ग्वालियर के समीप बसुवा गोविंदपुर गांव में, संवत् १६६० के लगभग माना जाता है। इनके एक भाई और एक बहन और थे। पत्नी की मृत्यु के उपरांत इनके पिता ओरछा चले गये। जहाँ इंद्रजीतसिंह के दरबार में बिहारी का कविवर केशव तथा प्रवीणराय पातुरी के साथ परिचय हुआ।

ओरछे के पास दसान नदी के किनारे गुढौ गाँव में महात्मा नरहरिदास रहते थे। बिहारी बारह वर्ष की अवस्था में ही अपने पिता के साथ इनकी सेवा में आने जाने लगे और विद्याभ्यास करने लगे। उक्त स्वामी जी ने इनका नाम बिहारीदास रक्खा। इन्हीं दिनों आप केशव जी से भी पढ़ते रहे। पातुरी के नृत्य ने आपको बचपन ही में रँगीला बना दिया और आप में कविता के लक्षण दीखने लगे। बिहारी के चमत्कारी पांडित्य का सूत्रपात यहीं से होता है।

बिहारी का विवाह मथुरा के किसी चौबे की पुत्री से हुआ। विवाह के पश्चात् बिहारी अपनी सुसराल में और उनके पिता वृंदावन में रहने लगे। सं० १६७५ के लगभग नरहरिदास वृंदावन की ओर आये। उन्होंने अवसर पा बिहारी को शाहजहां से मिला दिया। शाहजहाँ इन्हें

अपने साथ आगरा ले गये। वहाँ बिहारी ने फारसी का अभ्यास किया, जिससे इनकी रंगीली तबियत में और भी चटक आ गई।

१६९२ के लगभग बिहारी आमेर गये। उन दिनों वहाँ के महाराज जयसिंह अपनी नवोढ़ा पत्नी पर मस्त हो रहे थे और दिन रात उसी के महल में पड़े रहते थे। बिहारी को उनकी इस स्त्रैणता पर खेद हुआ, और उन्होंने मंत्रियों के कहने पर निम्नलिखित दोहा राजा के पास महल में भेजा:—

नहि परागु नहि मधुर मधु, नहिं बिकासु इहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

दोहे ने जादू का काम किया। राजा को अपने पतन का आभास हो गया और उन्होंने बिहारी को अपने यहाँ रख लिया। राजा की चौहानी रानी ने प्रसन्न हो बिहारी को काली पहाड़ी नाम का ग्राम पारितोषिक में दे दिया और उनका एक चित्र खिंचवाया, जो अब तक जयपुर के महल में विद्यमान है। इन दिनों आमेर में सुन्दर, मुंडन, गंग, गोपाललाल, मुंकुंद आदि अनेक कवियों की मंडली जमी हुई थी। बिहारी भी उनमें सम्मिलित हो गये।

१७०४ के जाड़ों में इन्होंने अपनी विख्यात सतसई पूरी की। उसी वर्ष महाराज जयसिंह औरँगजेब के साथ बलख की चढ़ाई पर गये थे। और वहां से वीरता के साथ शाही सेना को पठानों तथा बर्फ से बचा लाये थे। बिहारी ने इस अवसर पर यह पढ़ कर—

सामा सेन सयान की, सबै साहि के साथ।
बाहुबली जय साहिजू, फतै तिहारे हाथ॥
यों दल काढ़े बलख तें, तैं जयसिंह भुआल।
उदर अघासुर के परैं, ज्यों हरि गाइ गुआल॥
घर घर तुरकिन हिन्दुनि, देति असीस सराहि।
पति नु राखि चादर चुरी, तैं राखी जय साहि॥

अपनी सतसई महाराज को भेंट कर दी।

इस घटना के आसपास बिहारी की पत्नी का देहान्त हो गया और वे संसार से विरत हो वृन्दावन जा बसे, जहाँ भगवद्भजन करते हुए वे संवत् १७२१ में परम धाम सिधारे।

खेद का विषय है कि जिस प्रकार बिहारी की सतसई से पहली कोई रचना नहीं मिलती, उसी प्रकार इससे पीछे की भी उनकी कृति देखने में नहीं आती। संभव है, वृन्दावन पहुँच इन्होंने कविता करने का व्यसन ही छोड़ दिया हो।

सतसई के बहुसंख्यक दोहों का संकेत राधाकृष्ण की केलिक्रीडा की ओर है। उनका प्रयोजन है— कवित्वकला का निदर्शन और अलंकारों का संप्रदर्शन। क्योंकि मुक्तक होने के कारण इनका प्रत्येक दोहा स्वतंत्र है, इसलिए वह सहज ही आगे पीछे किया जा सकता है, और यही कारण है कि सतसई आजकल अनेक रूपों में मिलती है। सब रूपों में आजमशाही पाठ प्रामाणिक है, जो पाठ औरंगज़ेब के तीसरे पुत्र आज़मशाह के लिए तैयार किया गया था।

सतसई की रचना मुक्तक छंदों में हुई है। मुक्तक कविता में जो गुण होने चाहिएं, बिहारी की कविता में वे अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुए हैं। प्रबन्ध-काव्य में किंचित्काल के लिए कवि शिथिल पड़कर भी निर्वाह कर सकता है, किंतु मुक्तक काव्य की प्रत्येक पंक्ति में जीवन और स्फूर्ति होनी आवश्यक है। प्रबंध-काव्य में कवि किसी विशाल समूह का व्याख्यान करता है,मुक्तक काव्य में उसे मर्मस्पर्शी खंडकाव्य की रचना करके जनता को रिझाना होता है। 'अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा।' यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी। बिहारी का प्रत्येक दोहा जीता जागता मंत्र है। दोहे क्या हैं, रसभरी पिचकारियाँ हैं।

नीचे लिखे दोहों में बिहारी की रसव्यंजन चातुरी दीख पड़ती है :—

भौंह ऊँचै, आँचरु उलटि, मौर मोरि मुँह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सौं जोरि॥
बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाइ॥
नासा मोरि, नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकै हिए, गड़ी कँटीली भौंह॥

स्त्री के सौंदर्य की दृष्टि से भावपक्ष और कलापक्ष को ले जैसी पेशल, सरस तथा सुसंबद्ध कविता बिहारी ने की है, वैसी हिंदी में अन्य किसी कवि ने नहीं की। स्मृति की कसक और विस्मृति के निरालेपन में वह अनुपम है। स्त्रियों के हावभाव, अभिलाप तथा विलास का जितना सूक्ष्म निरीक्षण उसने किया है, वैसा अन्य किसी ने नहीं। तारुण्य की लुनाई को, ललनाओं की कलित केलिभंगियों को जैसा उसने परखा है, वैसा और किसी ने नहीं। उसने प्रेम की ओस से एक २ बूँद ले अपनी सतसई को भरा है। उसकी एक एक बूँद में शृंगार की कूक है, अनंग का राग है और प्रेम की वारुणी है। इन बातों में बिहारी संसार के नेता हैं।

किंतु यह सब कुछ होने पर भी हम उन्हें अमर विश्वकवि नहीं कह सकते। उनकी कविता में जो सौंदर्य तथा प्रेम दीख पड़ता है, और समय समय पर जो उसमें दैविक आकर्षण प्रतीत होने लगता है, वह अनंत सौंदर्य के उस उच्च आदर्श से, जो मनुष्य को निस्पृह और निस्वार्थ बनाता है, कहीं दूर है। यह तो मनुष्य के हृदय का, जो प्रेम का एकमात्र आगार है, जहां विशुद्ध प्रेम देदीप्यमान रत्न की भाँति जगमगाता रहता है, उपहासमात्र है, विडंबनमात्र है।

सौंदर्य की इस विडंबना में भी कहीं कहीं बिहारी वस्तुव्यंजन तथा औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर गये हैं। जैसे :—

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहै आनन-ओप-उजास॥

छाले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाइ ।
झिझकति हियैं गुलाब कैं झवा झिवावति पाइ ॥
इत आवति चलि जात उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासन साथ ॥
आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति ।
साहस कै कै नेहबस सखी सबै ढिग जाति ॥

इनकी भाषा प्रांजल, साहित्यिक तथा सुव्यवस्थित है। इसमें सागर को गागर में भरने का प्रयत्न किया गया है । प्रत्येक शब्द में संसूचना और भावभंगी भरी हुई है ।

बिहारी सूक्ष्मदर्शी कवि थे, यह सत्य है, किंतु इनकी कविता में किसी एक स्थान पर ज्वर में दिये जाने वाले सुदर्शनचूर्ण का नाम आ जाने पर इन्हें वैद्यक का ज्ञाता तथा एक या दो दोहों में जगत् को परमात्मा का प्रतिबिंब बता देने पर वेदान्त का पारंगत बताना इन विषयों के साथ अन्याय करना है ।

मतिराम; जन्म सं० १६७४

ये तिकवाँपुर में, संवत् १६७४ के लगभग उत्पन्न हुए थे। ये बूँदी महाराज भावसिंह के यहाँ बहुत काल तक रहे और उन्हीं के आश्रय में इन्होंने अपना ललितललाम नामक अलंकारग्रंथ संवत् १७१६ तथा १७४५ के बीच किसी समय रचा। इसके अतिरिक्त इन्होंने छंदसार, साहित्यसार, लक्षण शृंगार, मतिरामसतसई तथा रसराज नाम के ग्रंथ रचे थे, जिनमें रसराज विशेष प्रसिद्ध है ।

रससिद्ध कवि मतिराम में आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व अधिक है । इन्होंने अपनी रचनाओं में सौंदर्य का अत्यंत स्वाभाविक तथा सजीव वर्णन किया है । बिहारी की भाँति ये पहाड़ से कौड़ी नहीं लाते । पेचीले मज़मून बाँधना भी इन्हें पसंद नहीं । इनकी सरणि सरल,चुटीली तथा प्रसाद

गुणवाली है। उसमें कहीं भी विरहिणी की आहों से लू नहीं चलती; धूलि का बवंडर नहीं उठता। उसमें कहीं भी दहाड़ती जेठ की धूप में "आँधाई सीसी" बीच में नहीं सूखती। मतिराम के भावव्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी है, बिहारी के समान चक्करदार नहीं। इनकी रचना के उदाहरण :—

क्यों इन आँखिन सों निहसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजे ?
नेकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव बसे कहु कैसे कै जीजै ?
होत रहै मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरारस पीजै ॥

× × × ×

कुंदन को रँग फीको लगै झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौनि में मंजु विलासन की सरसाई ॥
को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लहे मुसकानि—मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई ॥

मतिराम की ब्रजभाषा स्वाभाविक तथा सरस है। उसमें प्रसाद और माधुर्य गुण का प्राधान्य है। यह शब्दाडंबर से दूर है और इसमें अनावश्यक अनुप्रासों की भरमार नहीं की गई।

देव; सं० १७३०-१८२४

इनका पूरा नाम देवदत्त था। इनका जीवनकाल सं० १७३०—१८२४ तक बताया जाता है। ये इटावा के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में अपनी पहली रचना राजकुमार आजमशाह के सामने पढ़ी थी। ये आश्रयदाता की खोज में भारत के अनेक स्थानों पर फिरे, किंतु इन्हें कोई योग्य आश्रयदाता न मिला। इस बात का इनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

जनश्रुति के अनुसार इन्होंने ७२ ग्रंथ रचे थे, जिनमें से ३० आजकल

प्राप्य हैं। इनमें देवमायाप्रपंच नाम का एक नाटक भी है। इनकी रचनाओं में जातिविलास, रसविलास और प्रेमचंद्रिका प्रसिद्ध हैं। काव्यरसायन नामक ग्रंथ में रस, अलंकार तथा छंद आदि का मार्मिक निरूपण है। भावविलास, भवानीविलास और कुशलविलास भी रीतिप्रवाह की दृष्टि से विदग्ध कहे जाते हैं। देव की अधिकांश कविता शृंगार रस की है। नायिकाभेद पर इनका सुखसागरतरंग नाम का ग्रंथ प्रसिद्ध है। आप भवानीविलास में लिखते हैं:—

आवन सुन्यो है मन भावन को भामिनी,
सु आँखिन अनंद आँसू ढरकि ढरकि उठै।
देव दृग दोऊ दौरि जात द्वार देहरी लौं,
केहरी सी साँसे खरी खरकि खरकि उठै॥
कल न परति कहूँ ललन चलन कह्यौ,
विरह दया सो देह दहकै दहक दहक।
जेठी बहीन में बैठी बहू उत,
पीठि दिये पिय दीठि सकोचन।
आरसी की मुदरि दृढ़ दै, पिय को,
प्रतिबिंब लखै दुखमोचन॥

भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से देव का स्थान ऊंचा है। छंद की चिति में, विशेषणों की सृष्टि में, उपमाओं की परख में, घरेलू कहावतों की खोज में, नायिकाओं की विलासभंगियों के ताड़ने में और संयोग शृंगार के सजीव चित्र उतारने में देव पहुँचे हुए हैं। आप लिखते हैं:—

फूल से फैलि परे सब अँग, दुकूलन में दुति दौरि दुरी है।
आँसुन के जलपूर में पैरति, साँसन सों सनि लाज लुरी है॥
देवजु! देखिए दौरि दसा, ब्रजपौरि बिथा की कथा बिथुरी है।
हेम की बेलि भई हिमरासि, घरीक में घाम सों जाति घुरी है॥

सौंदर्य के सागर में पगी आँखों का चित्र देखने योग्य है :—

धार में धाय धँसीं निरधार ह्वै, जाय फँसीं, उकसीं न उघेरी।
री! अँगराय गिरीं गहिरि, गहि फेरे फिरीं न, घिरीं नहिं घेरी॥
देव कछू अपनो बसु ना, रस-लालच लाल चितैं भईं चेरी।
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

प्रेममद में पगी आँखों का कैसा सवाक् चित्र है। संयोगात्मक शृंगार के साथ वियोगात्मक शृंगार के वर्णन में भी देव पहुँचे हुए हैं। आप लिखते हैं :—

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
देव जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

शृंगारिक चमत्कार के साथ साथ देव में ज्ञान और वैराग्य का बोध भी पर्याप्त है। वह जीविका के लिए दरबारों में फिरा था; वहाँ उसे जीविका न मिली; संसार की पैंठ में उसे सौदा न मिला। उस पर भीड़ पड़ी; घरेलू क्लेशों और देशदेशांतरों की यातनाओं ने उसे चलनी बना दिया। जीवन के अन्तिम दिनों में उसका मन पार्थिव सौंदर्य से हट अपार्थिव सौंदर्य की ओर गया, जिसका चित्रण उसने अत्यंत मर्मस्पर्शिता तथा भावुकता के साथ किया है। "देव छितीस की छाप बिना जमराज जगाति महा दुख दै हैं" में वह इसी बात की ओर संकेत कर रहा है।

आवत आयु को द्यौस अथौत, गए रवि त्यों अँधियारिये ऐहैं।
दाम खरे कै खरीद करो गुरु, मोह की गोनि न फेरि बिकैहैं॥
जात उठी पुर देह की पैंठ अरे बनिये बनिये नहिं रैहैं॥

इसमें देव जगत् की अनित्यता की सूचना देता हुआ पाठक को चमत्कार और अलंकार के तत्कालीन युग से उठाकर एक बार फिर कबीर,

तुलसी और सूर के पावन भक्तियुग में ला उपस्थित करता है। यह समता बिहारी की जादूभरी उक्तियों में न थी और यही इन दोनों महाकवियों की कविता में भेद है।

जिस कवि को भावों के व्यापक क्षेत्र में आना पड़ता है, उसे भाषा की शक्ति भी बढ़ानी पड़ती है और कल्पना को भी बहुत कुछ विस्तृत करना पड़ता है। देव का शब्दभंडार और कल्पनाकोष भी विकसित और समृद्ध था। हाँ, भाषा को अलंकारसमन्वित करने और शब्दों को तोड़ने मरोड़ने की जो सामान्य प्रवृत्ति, उस समय कालदोष बनकर व्रजभाषा में व्याप्त हो रही थी, उससे देव भी नहीं बच सके हैं।

पांडित्य की दृष्टि से रीतिकाल के समस्त कवियों में देव का स्थान आचार्य केशव से कुछ नीचे माना जा सकता है। कलाकार की दृष्टि से वे बिहारी से निम्न ठहर सकते हैं, परंतु अनुभव और सूक्ष्मदर्शिता में उच्च कोटि की काव्यप्रतिभा का मिश्रण करने और सुंदर कल्पनाओं की अनोखी शक्ति लेकर विकसित होने के कारण हिंदी काव्यक्षेत्र में सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीतिकाल का प्रमुख कवि स्वीकार करना सकता है।

भूषण; १६७०-१७७२

अकबर, जहांगीर और शाहजहां अपनी दूरदर्शिता तथा उदार नीति से हिंदू और मुसलमानों के धार्मिक वैमनस्य को दूर कर हिंदुओं के प्रेमभाजन बने थे। इनके शासनकाल में हिंदू और मुसलमान दोनों साहित्य, संगीत और कला की वृद्धि में अग्रसर हुए थे। किंतु औरंगजेब की धर्मांधता ने फिर से देश में जातीय विद्वेष की ज्वाला भड़का दी और देश के अधिकांश में स्वातंत्र्यप्राप्ति की चेष्टा की जाने लगी। बुँदेलखंड-केसरी महाराज छत्रसाल और छत्रपति शिवा जी ने इस आंदोलन में प्रमुख भाग लिया। जिस प्रकार जातीय पतन और निराशा के उस युग में शिवाजी आदि वीरों ने अपवादरूप बनकर रणचंडी का रूप धारण

किया, उसी प्रकार साहित्यक्षेत्र में बहुसंख्यक कवियों के शृङ्गारमय रीतिमार्ग की तङ्ग नालियों में बहते रहने पर भी भूषण और लाल कवि ने राष्ट्रीयता के भाव धारण कर अपने २ भीषण रणखंडों की रचना की।

कवि भूषण चिंतामणि और मतिराम के भाई थे। इनका जन्म संवत् १६७० में तिकवाँपुर गाँव में हुआ। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें कविभूषण की उपाधि दी थी, तब से ये भूषण ही प्रसिद्ध हो गये। ये अनेक दरबारों में रहे। अन्त में इनके मनोनुकूल आश्रयदाता, जो आगे चलकर इनकी वीर रचनाओं के नायक हुए, छत्रपति महाराज शिवाजी मिले। पन्ना के महाराज छत्रसाल जी इनका आदर करते थे और कहावत है कि एक बार प्रसन्न हो उन्होंने स्वयं भूषण की पालकी में कन्धा दिया था। शिवाजी इनकी कविता पर लट्टू थे और किंवदंती है कि भूषण को उनसे एक २ कविता पर लाखों रुपए मिले थे।

इनके शिवराजभूषण, शिवाबावनी और छत्रसालदशक ग्रंथ प्राप्य हैं। कवित्व की दृष्टि से इनकी शिवाबावनी अत्युत्तम सम्पन्न हुई है। यों तो इनकी सभी रचनाओं में वीररस का उद्रेक है, किन्तु शिवाबावनी में तो वह पराकाष्ठा को पहुँच गया है। जातीयता तथा राष्ट्रीयता की जिन उत्कट भावनाओं से प्रेरित हो उन्होंने लेखनी हाथ में ली थी, वे शिवाबावनी की प्रत्येक पंक्ति में ओतप्रोत हैं।

इंद्र जिमि जंभ पर, बाडव सु अंभ पर,
रावण सदंभ पर रघुकुलराज हैं।
पौन बारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहसबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुंड पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।

तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यौं मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज हैं ॥

उक्त पद्य भूषण ने किसी प्रकार का पारितोषिक पाने या अपने स्वामी को रिझाने की नीयत से नहीं लिखा था। वह तो उसने अपने मन का आवेश बाहर निकालकर उसे शांत करने के लिए, हिंदुत्व के स्थायी संदेश को तत्कालीन समाज के अन्तस्तल तक पहुँचाने के लिए और उसकी रक्षा के एकमात्र उपाय शस्त्रग्रहण का मंत्र पढ़ाने के लिए लिखा था। वस्तुतः शिवाजी और भूषण दो भिन्न व्यक्ति न थे। वे एक ही घटना के दो पक्ष थे। हिंदुत्व की ज्वलंत आत्मा कर्मक्षेत्र में शिवाजी और भावक्षेत्र में भूषण के रूप में जाज्वल्यवती हुई थी। भूषण उद्वेलित भावनासागर के शिवाजी थे और शिवाजी विध्वंसक रणचंडी के भूषण। कवि का उसकी रचना के विषय के साथ तादात्म्य हो जाना ही कवित्वकला की पराकाष्ठा है, और यह भूषण में पूर्णरूप से सम्पन्न हुई है।

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाहि करषति है।
बिलखि बदन बिलखत बिजैपुर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है ॥
थर थर काँपत कुतुब साहि गोलकुंडा,
हहरि हबस-भूप-भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते बादसाहन की छाती धरकति है ॥

आदि पद्यों में भूषण का अपने वर्ण्य विषय के साथ तादात्म्य पूर्ण रीति से सम्पन्न हुआ है।

इनकी भाषा व्रजभाषा है, पर मतिराम और पद्माकर की सी नहीं। यह साधारण काव्य भाषा है, जिसमें विदेशी शब्दों की पुट अधिक है।

कुलपति मिश्र; रचनाकाल सं० १७२४—१७४३

ये आगरे के चौबे ब्राह्मण थे और बिहारीलाल चौबे के भानजे थे। इनका रसविषयक ग्रन्थ रसरहस्य बहुत प्रसिद्ध है। इस के अतिरिक्त इन्होंने द्रोणपर्व, मुक्तितरंगिणी, नखशिख, संग्रहसार और गुणरसरहस्य नाम के ग्रन्थ और लिखे थे।

इनका रसरहस्य मम्मट के काव्यप्रकाश का छायानुवाद है।

उदाहरण:—

ऐसिय कुंज बनी छबिपुंज रहै अलि गुंजत यों सुख लीजै।
नैन बिसाल हिए बनमाल बिलोकत रूप-सुधा भरि पीजै॥
जामिनिजाम की कौन कहै जुग जात न जानिए ज्यों छिन छीजै।
आनँद यों उमग्योई रहै पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै॥

सुखदेव मिश्र; रचनाकाल सं० १७२०—१७६०

दौलतपुर, जिला रायबरेली में इनके वंशज अब तक विद्यमान हैं। इनके ग्रन्थों में वृत्तविचार, छंदविचार,; फाजिलअलीप्रकाश, रसार्णव, शृङ्गारलता और अध्यात्मप्रकाश ज्ञात हैं। ये प्रौढ़ कवि तथा पटु आचाय थे। फाज़िलअलीप्रकाश और रसार्णव में शृङ्गार रस के चुटीले उदाहरण हैं।

कालीदास त्रिवेदी;

ये कनौजिये ब्राह्मण थे। इनका वृत्त ज्ञात नहीं है। इनकी कृतियों में वारवधूविनोद, राधामाधवबुधमिलनविनोद तथा कालीदासहजारा मुख्य हैं।

राम; जन्म सं० १७०३

इन्होंने नायिका भेद पर शृङ्गारसौरभ नाम का उत्कृष्ट ग्रन्थ रचा था।

नेवाज़; सं० १७३७ में वर्तमान

ये अन्तर्वेद के रहने वाले ब्राह्मण थे और संवत् १७३७ के लगभग इन्होंने हिन्दी में शकुन्तला नाटक लिखा था। आपकी भाषा परिमार्जित, व्यवस्थित और भावोपयुक्त है।

श्रीपति; सं० १७७७ के लगभग

आप कालपी के रहने वाले कनौजिया ब्राह्मण थे। आपकी रचनाओं में काव्यसरोज, कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रासविनोद, विक्रमविलास, सरोजकलिका और अलङ्कारगङ्गा ज्ञात हैं।

आपके अनुप्रास का उदाहरण:—

जलभरे झूमैं मानौ भूमै परसत आय,
दसहू दिसान घूमैं दामिनी लए लए।
धूरिधार धूमरे से धूम से धुँधारे कारे,
धुरवान धारे धावैं छवि सो छए छए॥
श्रीपति सुकवि कहैं घेरि घेरि घहराहि,
तकत अतन तन ताव तें तए तए।
लाल बिनु कैसे लाज-चादर रहैगी आज,
कादर करत मोहिं बादर नए नए॥

अलीमुहिब खाँ; सं० १७८७ में वर्तमान

आप आगरे के रहने वाले थे। सं० १७८७ में आपने खटमलबाईसी नामक हास्यरस की पुस्तक लिखी थी। शृङ्गार और रीति के उस युग में हास्यरस में चलती कविता करना आप ही का काम था।

उदाहरण :—

बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि,
साँपन पै गयो, ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत हैं सीस पर,
बैदन पै गयो, काहू दारू ना बताई है॥
जब हहराय हम हरि के निकट गए,
हरि मो सों कही तेरी मति धूल छाई है।
कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन,
खाट के नगर खटमल की दुहाई है॥

भिखारीदास; रचनाकाल १७८५-१८०७

आप जाति के कायस्थ थे। प्रतापगढ़ (बुंदेलखंड) के रहने वाले थे। आप दास के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रतापगढ़ के सोमवंशी राजा पृथ्वीपतिसिंह के भाई हिंदूपतिसिंह आपके आश्रयदाता थे। इनका रचनाकाल १७८५ से १८०७ तक माना जाता है।

आपकी रचनाओं में रससारांश, छंदोर्णवपिंगल, काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय,नामप्रकाश, विष्णुपुराणभाषा, छंदप्रकाश, शतरंजशतिका और अमरप्रकाश ज्ञात हैं।

दास जी ने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष और शब्दशक्ति का विस्तृत निरूपण किया है। आपने साहित्यिक तथा परिमार्जित भाषा में मुख्यतः शृंगार ही की छानबीन की है। आपका शृंगारनिर्णय ग्रंथ उत्तम है; इसके उदाहरण सरस तथा हृदयस्पर्शी हैं। आपकी रचना कलापक्ष में सुव्यवस्थित तथा भावपक्ष में मनोरंजक सिद्ध हुई है। दास जी ऊँची श्रेणी के कवि थे। उदाहरण :—

कढ़ि कै निसंक पैठ जाति झुंड भुंडन में
लोगन को देखि दास आनँद पगति है।
दौरि दौरि जहाँ तहाँ लाल करि डारति है,
अंक लगि कंठ लगिवे को उमगति है॥
चमक-झमक-वारी, ठमक-जमक- वारी,
रमक-तमक-वारी, जाहिर जगति है।
राम ! असि रावरे की रन में नरन में,
निलज बनिता सी होरि खेलन लगति है॥

तोषनिधि; १७६१ में वर्तमान

ये सिंगरौर, जिला इलाहाबाद के रहने वाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। इनका सुधानिधि नामक रसभेद और भावभेदसम्बन्धी ग्रंथ प्रसिद्ध है। इसकी रचना संवत् १७६१ में हुई थी।

तोष जी अत्यंत सहृदय तथा प्रगल्भ कवि थे। आपकी भाषा स्वाभाविक है, और भावों की ऊहापोह नियंत्रित होने पर भी दुरूह नहीं होने पाई।

उदाहरण :—

श्रीहरि की छवि देखिबे को अँखियाँ प्रति रोमहि में करि देतो।
बैनन के सुनिवे हित स्रौन जिते तित सो करतौ करि देतो॥
मो ढिग छाँड़ि न काम कहूँ रहै तोष कहै लिखितो विधि एतो।
वो करतार इती करनी करिकै कलि में कल कीरति लेतो॥

सोमनाथ; रचनाकाल १७६०–१८१०

ये माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहाँ रहते थे। आपके रचे रसपीयूषनिधि नामक ग्रंथ में

छंद, काव्यलक्षण, प्रयोजन, शब्दशक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष आदि विषयों का विस्तृत निरूपण है।

रसलीन, सं०; १७६४ में वर्तमान

आपका पूरा नाम सैयद गुलाम नबी था। आपने सं० १७६४ में अंगदर्पण लिखा था। इसके अतिरिक्त आपने रसनिरूपण के लिए रसप्रबोध भी रचा था। चमत्कार और उक्तिवैचित्र्य के आप पक्षपाती थे। आपकी कविता में अतिशयोक्ति का अच्छा चमत्कार है।

उदाहरण :—

तुव पगतल मृदुता चितै, कवि बरनन सकुचाहिं।
मन में आवत जीभ लौं, मत छाले परि जाहिं॥
सूछम कटि वा बाल की, कहौं कवन परकार।
जाके ओर चितौंत ही, परत दृगन में बार॥
अमी हलाहल मद भरे, स्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जिहि चितवत इक बार॥

रघुनाथ; सं० १७६६ में वर्तमान

आप काशीराज महाराज बरिवंडसिंह के दरबार में थे। आपने काव्यकलाधर, रसिकमोहन, जगतमोहन और इश्कमहोत्सव लिखकर बिहारी की सतसई पर एक टीका भी लिखी थी। काव्यकलाधर में रस का निरूपण है। आपकी कविता का उदाहरण :—

फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन,
कहै रघुनाथ भरे चैनरस सियरे

दौरि आए भौंर से करत गुनी गुनगान,
सिद्ध से सुजान सुख सागर सों नियरे।
सुरभी सी खुलन सुकवि की सुमति लागी,
चिरिया सी जागी चिंता जनक के जियरे।
धनुष पै ठाढे राम रवि से लसत आजु,
भोर केसे नखत नरिद परे पियरे॥

दूलह; रचनाकाल सं० १८००-१८२५

ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ कवींद्र के पुत्र थे। आपका रचा कविकुलकंठाभरण अलंकार का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके द्वारा सहज मे अलंकारों का पर्याप्त बोध हो जाता है।

वेनी प्रवीन; सं० १८७४ में वर्तमान

आप लखनऊ निवासी वाजपेयी ब्राह्मण थे। आपके रचे नवरसतरंग, शृंगारभूषण और नानारावप्रकाश नाम के तीन ग्रंथों में पहला प्रसिद्ध है, जिसमें आपने नायिकाभेद के उपरांत रसभेद और भाव भेद का संक्षिप्त निरूपण किया है। व्रजभाषा में आप मतिराम से टक्कर लेते हैं और भाषा और भाव दोनों की मधुरिमा में कहीं कहीं पद्माकर की समता कर जाते हैं। उदाहरण :—

घनसार पटीर मिलै मिलै नीर चहै तन लावै न लावै चहै।
न बुझै विरहागिनि झार, झरी हू चहै घन लावै न लावै चहै॥
हम टेरि सुनावती बेनी प्रवीन चहै मन लावै न लावैं चहै।
अब आवै विदेस तें पीतम गेह, चहै धन लावै न लावै चहै॥

पद्माकर भट्ट; सं० १८१०-१८६०

रीतिकाल के अंतिम चरण में आप सबसे प्रसिद्ध कवि हैं। ये बांदानिवासी मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १८१० में हुआ और स्वर्गवास १८६० में। इन्होंने नागपुर, पन्ना, जयपुर आदि कई राज्यों में आदर तथा जागीरें पाई थीं। अवध के तत्कालीन सेनाध्यक्ष हिम्मतबहादुर की प्रशंसा में इन्होंने हिम्मतबहादुरविरुदावली नामक पुस्तक लिखी थी। इनके प्रमुख आश्रयदाता जयपुराधीश जगतसिंह थे, जिनको इन्होंने अपना जगद्विनोद नामक ग्रंथ समर्पित किया था। इनका अलंकार विषयक ग्रंथ पद्माभरण भी जयपुर में ही लिखा गया था। प्रबोधपचासा और गंगालहरी इनकी अंतिम रचनाएं थीं। अंत समय से कुछ पहले ये कानपुर आ गये थे।

आपकी रचना में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों की यथेष्ठ परिपुष्टि हुई है। आपका शृंगारवर्णन प्रसिद्ध है और पीछे आने वाले कवियों के लिए आदर्श ठहरा है। आपकी कलित कल्पना, स्निग्धपदावली के द्वारा प्रेम के सवाक् चित्र खींच कर रसिक श्रोताओं को अनुभूति के क्षेत्र में पहुँचा देती है। भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर आपका समान आधिपत्य था। "कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं कहीं अनुप्रासों का मिलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान कड़कती और अकड़ती हुई चलती है और कहीं प्रशांत सरोवर के समान स्थिर और गँभीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रांति की छाया दिखाती है।" उदाहरण :—

कूलन में केलिन में कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलिन कलीन किलकंत है।

कहै पदमाकर परागन में पान हूँ में,
पानन में पीक में पलासन पगंत है।
द्वार में दिशान में दुनी में देश-देशन में,
देखो दीप दीपन में दीपन दिगंत है।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरो बसंत है।
तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै,
वृंदावन बीथिन बहार बंसीवट पै।
कहैं पदमाकर अखंड रासमंडल पै,
मंडित उमडि महा कालिंदी के तट पै।
छिति पर छान पर छाजत छतान पर,
ललित लतान पर लाड़िली के लट पै।
आई भले छाई यह सरद जुन्हाई जिहि,
पाई छवि आज ही कन्हाई के मुकुट पै।

ग्वाल; रचनाकाल १८७९-१९१९

ये मथुरा के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम सेवाराम था। इनका कविताकाल संवत् १८७९ से संवत् १९१९ तक है। अपना पहला ग्रंथ यमुनालहरी इन्होंने संवत् १८७९ में और अंतिम ग्रंथ भक्तभावन १९१९ में बनाया। रसिकानंद, रसरंग, कृष्णजू को नखशिख और दूषण-दर्पण नाम के चार ग्रंथ इन्होंने रीति विषय पर रचे। आप रीतिमार्ग से इतने अधिक अभिभूत थे कि यमुनालहरी जैसी पुस्तक में भी आपको नवरस और षड्ऋतु का वर्णन सूझा है। भिन्न-भिन्न प्रांतों में पर्यटन करने के कारण इन्हें बाहर की बोलियों का अच्छा ज्ञान था। फलतः इन्होंने ठेठ पूरबी, हिंदी, गुजराती और पंजाबी भाषा में भी कुछ कवित्त सवैये लिखे हैं।

उदाहरण :—

मोरन के सोरन की नेकौ न मरोर रही,
घोर हू रही न घन घने या फरद की।
अम्बर अमल, सर सरिता बिमल मल,
पंक को न अंक औ न उड़न गरद की॥
ग्वाल कवि चित्त में चकोरन के चैन भाए,
पंथिन की दूर भई दूषन दरद की।
जल पर, थल पर, महल, अचल पर,
चाँदी सी चमकि रही चाँदनी सरद की॥

प्रतापसाहि; रचनाकाल १८८०–१९००

चरखारीनरेश विक्रमसाहि के आश्रित कवि प्रतापसाहि ने व्यंग्यार्थ-कौमुदी तथा काव्यविलास नामक दो प्रसिद्ध ग्रंथ रचे। इनके अतिरिक्त आपने नीचे लिखी पुस्तकें और बनाई थीं—

जयसिंहप्रकाश, शृंगारमंजरी, शृंगारशिरोमणि, अलंकारचिंतामणि, काव्यविनोद, रसराज की टीका, रत्नचन्द्रिका (सतसई पर), जुगल नखशिख, तथा बलभद्रनखशिख की टीका।

पुस्तकों की संख्या तथा नामों से ही आपके व्यापक पांडित्य तथा रसस्निग्ध हृदय का परिचय मिल जाता है। "यदि हम आचार्यत्व और कवित्व दोनों के एक अनूठे संयोग की दृष्टि से विचार करें तो मतिराम श्रीपति, और दास से ये कुछ बीस ही ठहरते हैं। इधर भाषा की स्निग्ध सुख-सरल गति, कल्पना की मूर्तिमत्ता और हृदय की द्रवणशीलता मतिराम श्रीपति और बेनी प्रवीन के मेल में मिल जाती है, तो उधर आचार्यत्व इन तीनों से भी और दास से भी कुछ आगे ही दिखाई पड़ता है।" इनकी प्रखर प्रतिभा ने मानो पद्माकर की प्रतिभा के साथ रीतिबद्ध काव्यकला को पूर्णता पर पहुंचाकर छोड़ दिया।

उदाहरण :—

तड़पै तड़िता चहुँ ओरन ते, छिति छाई समीरन की लहरैं।
मदमाते महा गिरिशृंगन पै, गन मंजु मयूरन के कहरैं॥
इनकी करनी बरनी न परै, मगरूर गुमानन सों गहरैं।
घन ये नभमंडल में गहरैं, घहरैं कहुँ जायँ, कहूँ ठहरैं॥

———

अध्याय ११

मध्ययुग

रीतिकाल के अन्य कवि

रीतिकाल संवत् १७०० से १६०० तक है। इस काल के प्रमुख कवियों ने नायक-नायिकाओं के भेदोपभेद दिखाते हुए विभाव, अनुभाव और संचारियों के योग से तथा परंपरागत उपमानों की योजना से स्त्री और पुरुष के पारस्परिक प्रेम की मधुरिमा का आलंकारिक निरूपण किया था। रीति और अलंकार आदि के निरूपण को अपनी रचनाओं का प्रमुख ध्येय बना इन कवियों ने उदाहरण रूप से गोप-गोपियों की केलि तथा नायक-नायिकाओं के अभिसार को अपनी कविता में स्थान दिया था।

किंतु इसी काल में कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने संयोग-वियोगात्मक शृंगार का तो परंपरागत रूढ़ि से ही वर्णन किया है किंतु इस वर्णन को रसरीतिनिरूपण का उपकरणमात्र नहीं बनाया है। इस श्रेणी के कवियों में घनानंद, बोधा और ठाकुर मुख्य हैं। इन्होंने नीति, ज्ञान, भक्ति, वीरगाथा आदि स्फुट विषयों पर चलती कविता की है। प्रस्तुत अध्याय में इसी श्रेणी के कवियों का दिग्दर्शन कराया जायगा।

सबलसिंह चौहान; १७१८–१७८१

औरंगजेब के दरबारी राजा मित्रसेन के संबंधी सबलसिंह चौहान ने

महाभारत की कथा अवधी भाषा के दोहे और चौपाइयों में लिखी है। यह विशाल ग्रंथ संवत् १७१८ और १७८१ के बीच पूरा हुआ था। इसके अतिरिक्त इन्होंने ऋतुसंहार का भाषानुवाद किया था और रूपविलास तथा एक छंदोग्रंथ भी लिखा था।

ये उच्च कोटि के कलाकार नहीं थे, पर सीधी-सादी भाषा में लंबे-चौड़े वर्णन लिखने की इनमें अच्छी क्षमता थी। युद्ध का वर्णन भी इनका सजीव संपन्न हुआ है। इनकी रचना का उदाहरण :—

अभिमनु धाइ खडग परहारे। संमुख जेहि पायो तेहि मारे॥
भूरिश्रवा बान दस छाँटे। कुँवर-हाथ के खडगहिं काटे॥
तीनि बान सारथि उर मारे। आठ बान तें अस्व सँहारे॥

वृंद; सं० १७६१ के लगभग

आप मेड़ते के रहने वाले थे और कृष्णगढ़नरेश महाराज राजसिंह के गुरु थे। आपकी वृंदसतसई, जिसमें नीति के सात सौ दोहे हैं, बहुत प्रसिद्ध है।

बैताल; जन्म सं० १७३४

आप जाति के बंदीजन थे। शिवसिंहसरोज में आपका जन्म संवत् १७३४ दिया है। इन्होंने गिरिधरराय के समान कुंडलियों की रचना की है, और प्रत्येक कुंडलिया विक्रम को संबोधन करके कही है। आपकी भाषा और भाव दोनों सीधे-सादे हैं।

उदाहरण :—

मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि, मरै वह खसम निखट्टू॥

बाम्हन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै
पूत वही मरि जाय, जो कुल में दाग लगावै ॥
अरु बेनियाव राजा मरै, तबै नींद भर सोइये।
बैताल कहै विक्रम सुनो, एते मरे न रोइये ॥

आलम; रचनाकाल सं० १७४०–१७६०

ये जाति के ब्राह्मण थे; पर शेख नामक रंगरेजिन पर आसक्त हो मुसलमान बन गये थे। इनका रचनाकाल १७४० से १७६० तक माना जाता है। इनकी कविताओं का एक संग्रह आलमकेलि नाम से प्रकाशित हुआ है। माधवानलकामकंदला नाम की प्रेम-कथा भी आपने रची थी।

शेख रंगरेजिन भी हाजरजवाब कवयित्री थीं। आलम का आपके साथ संबंध विचित्र प्रकार से हुआ बताया जाता है। कहावत के अनुसार आलम ने एक बार अपनी पगड़ी इन्हें रँगने को दी। पगिया की छोर में एक कागज़ बँधा था, जिसमें लिखा था "कनक छरी सी कामिनी, काहे को कटि छीन"। शेख ने दोहे को इस प्रकार पूरा करके "कटि को कंचन काटि बिधि, कुचन मध्य धरि दीन" फिर ज्यों-का-त्यों पगिया में बाँध दिया। आलम दोहे को पढ़ते ही इन पर लट्टू हो गये और अंत में आपने इनके साथ विवाह कर लिया। आलम की रचना में शेख का पर्याप्त हाथ है।

उदाहरण :—

प्रेमरँगपगे जगमगे जगे जामिनि के,
जोबन जोति जगि जोर उमगत हैं।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत हैं झुकि झुकि झाँपि उघरत हैं ॥
आलम सो नवल निकाई इन नैनन की,
पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं।

चाहत हैं उड़िवे को, देखत मयंकमुख,
जानत हैं रैनि ता तें ताहि मैं रहत हैं ॥

गुरुगोविंदसिंह; सं० १७२३–१७६५

महापराक्रमी गोविंदसिंह सिक्खों के अंतिम दशम गुरु थे। आपका जन्म सं १७२३ में और स्वर्गवास १७६५ में हुआ था। रणबाँके सिपाही होते हुए भी आपका हृदय रस से आप्लावित था। यद्यपि सिक्ख संप्रदाय निर्गुणोपासक है, तथापि आपने सगुण की आराधना करते हुए देव-कथाओं में अपनी आस्था दिखाई है। आपका रचा चंडीचरित ओजपूर्ण है। पंजाबी होते हुए भी आप परिष्कृत ब्रज लिखते थे।

उदाहरण :—

निर्जन निरूप हौ, कि सुन्दर स्वरूप हौ,
कि भूपन के भूप हौ, कि दानी महादान हौ।
प्रान के बचैया, दूध-पूत के देवैया,
रोगसोक के मिटैया, किधौं मानी महामान हौ ?
विद्या के विचार हौ, कि अद्वैत-अवतार हौ,
कि सुद्धता की मूर्ति हौ, कि सिद्धता की सान हौ ?
जोबन के जाल हौ, कि कालहू के गाल हौ,
कि सत्रुन के साल हौ कि मित्रन के प्रान हौ ?

लाल कवि; सं० १७१५–१७६५

जिस प्रकार भूषण ने शिवा जी की स्तुति में वीर काव्यरचना की है, उसी प्रकार लाल कवि ने बुंदेलखंडकेसरी महाराज छत्रसाल का शौर्य-पराक्रम गाया है। आपका पूरा नाम गोरेलाल था। आपके पूर्वज आंध्रदेश के निवासी जाति के भट्ट तैलङ्ग ब्राह्मण थे। आपका प्रसिद्ध छत्रसाल प्रकाश नामक ग्रंथ साहित्यिक

होते हुए भी ऐतिहासिक है जो संस्कृत और हिंदी साहित्य में एक नई बात है। इस ग्रंथ में कवि ने बुंदेलवंश की उत्पत्ति, चंपतराय के विजयवृत्तांत, उनके उद्योग और पराक्रम, चंपतराय के अंतिम दिनों में उनके राज्य का मुगलों के हाथ आना, छत्रसाल का छोटी सी सेना लेकर अपने राज्य का उद्धार करना, फिर क्रमशः विजय पर विजय प्राप्त करते हुए मुगलों के नाकों दम करना इत्यादि बातों का दोहे और चौपाइयों में विस्तृत तथा ओजस्वी वर्णन किया है।

आपकी रचना का उदाहरण:—

छत्रसाल हाडा तहँ आयो। अरुनरंग आनन छवि छायो ॥
भयों हरौल बजाय नगारो। सारधार को पहिरन हारो ॥
दौरि देस मुगलन के मारौ। दपटि दिली के दल संहारो ॥
ऍड एक सिवराज निबाही। करै आपने चित्त की चाहि ॥
आठ पातसाही झकझोरे। सूबनि पकरि दण्ड लै छोरे ॥
काटि कटक किरवान बल, बाँटि जंबुकनि देहु।
ठाटि युद्ध यह रीति सों, बाँटि धरनि धरि लेहु ॥

लाल की भाषा मिश्रित है। जहाँ दोहा चौपाइयों में कविता करने वाले पहले सभी कवियों ने एकमात्र अवधी का प्रयोग किया है, वहां लाल ने अपनी रचना में व्रजभाषा, बुन्देलखंडी; अवधी तीनों का अभूतपूर्व संमिश्रण किया है। इनकी भाषा में प्रसाद गुण की अधिकता रहने पर भी अर्थगांभीर्य पूर्ण रीति से संपन्न हुआ है।

वर्णन की सजीवता में भी लाल का निराला स्थान है। स्वाभाविकता, भावगंभीरता और सरलता की दृष्टि से लाल की कविता उच्च कोटि की है।

घनानन्द, सं० १७४६–१७९६

व्रजभाषा के रसभाषासिद्ध प्रसिद्ध कवि घनानन्द जाति के कायस्थ थे

और दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुंशी थे। आपका जन्म संवत्१६४६ के लगभग और मृत्यु १६६६ में नादिरशाही में हुई थी। आप पारंगत गायक थे और अपनी प्रेमिका सुजान वेश्या के रूखेपन से रुष्ट हो, वृंदावन आकर निंबार्क संप्रदाय के वैष्णव बन गये और वहीं विरतभाव से रहने लगे।

आपके रचे सुजानसागर, विरहलीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली, कृपाकंद, सुजानहित, इश्कलता तथा प्रीतिपावस नाम के ग्रंथों में पहला प्रकाशित हो चुका है, जो विशुद्ध तथा सरस व्रजभाषा और स्वाभाविक, मृदुल तथा कोमल भावों की दृष्टि से अत्यंत उच्चकोटि का ग्रंथ है। आपकी रचना में वियोग शृंगार की मार्मिक वेदना प्रवाहित है। उसमें बिहारी आदि की नाईं अत्युक्ति नहीं, उद्वेग और भड़क नहीं, फर्मायशी उठ-बैठ नहीं। वह अंतस्तली की पीर है और उसमें कवि का रसोद्रिक्त हृदय फूट-फूटकर बह रहा है। उदाहरण:—

तब तौ दुरि दूर हि ते मुसकाय बचाय के और की दीठि हँसे।
दरसाय मनोज की मूरति ऐसी, रचाय कै नैनन में सरसे॥
अब तो उर मांहिं बसाय कै मारत, ए जू बिसासी! कहाँ धौं बसे?
कुछ नेह निबाहि न जानत हे, तौ सनेह की धार में काहे धँसे॥

विश्वनाथसिंह; सं० १७७८-१७९७ तक रींवा की गद्दी पर रहे।

आप जैसे भक्त थे, वैसे ही विद्याव्यसनी और कवियों तथा विद्वानों को आश्रय देने वाले भी थे। आपने ३२ के लगभग पुस्तकें लिखी हैं, जिनसे आपका पांडित्य तथा साहित्यप्रेम प्रकट होता है। आपका रचा आनंदरघुनन्दन नामक नाटक व्रजभाषा में सर्वप्रथम होने के कारण महत्त्व की वस्तु है। हिंदी के प्रथम नाटककार की दृष्टि से आप चिरस्मरणीय रहेंगे।

नागरीदास; जन्म सं० १७५६

कृष्णगढ़ नरेश महाराज सांवंतसिंह (नागरीदास] जी का जन्म

संवत् १७५६ में हुआ था। अपने पिता महाराजसिंह की मृत्यु के उपरांत, जब ये दिल्ली के शाही दरबार में थे, तब इनकी अनुपस्थिति में इनके भाई ने राज्य पर अधिकार कर लिया था, जिस पर मराठों से सहायता लेकर इन्होंने फिर अपना आधिपत्य स्थापित किया। पर इस गृहकलह से विरक्त हो ये वृंदावन आ बसे और वहाँ भक्त के रूप में रहने लगे। गृह-कलह पर संकेत करते हुए आप लिखते हैं:—

जहाँ कलह तहँ सुख नहीं, कलह सुखन को सूल।
सबै कलह इक राज में, राज कलह को मूल॥
कहा भयो नृपहू भए, ढोवत जग बेगार।
लेत न सुख हरि भक्ति को, सकल सुखन को सार॥
मैं अपने मन मूढ़ तें, डरत रहत हौं हाय।
वृंदावन की ओर तें, मति कब हूँ फिरि जाय॥

भक्तकवियों में आपने प्रचुर परिमाण में कविता की है। कृष्णगढ़ में आपकी लिखी छोटी-बड़ी सब मिलाकर ७३ पुस्तकें संगृहीत हैं, जिनमें बहुत सी पचीस-पचीस पद्य से अधिक नहीं हैं।

जोधराज; १८५७ में वर्तमान

हम्मीररासो के रचयिता जोधराज गौड़ ब्राह्मण थे। इस ग्रंथ में रणथंभौर के प्रसिद्ध वीर हम्मीरदेव और अलाउद्दीन के बीच होने वाले युद्धों का ओजस्विनी भाषा में, इतिहास की दृष्टि से सत्य वर्णन हुआ है। कहीं कहीं प्रेमप्रसंग को परिपुष्ट करने के लिए कुछ घटनाओं की कल्पना भी की गई है।

उदा[illegible] :—

[illegible]न-मरन-सँजोग जग कौन मिटावै ताहि?
जो जनमै संसार में अमर रहै नहिं आह॥

कहाँ जैत कहँ सूर, कहाँ सोमेश्वर राणा।
कहाँ गए प्रथिराज, साह दल जीति न आणा॥
होतब मिटै न जगत में कीजै चिन्ता कोहि।
आसा कहै हमीर सौं अब चूकौ मत सोहि॥

हंसराज बख्शी; जन्म सं १७९९

पन्नानिवासी बख्शी हरकिशन जी के पुत्र कवि हंसराज पन्नानरेश श्रीअमानसिंह के दरबार में रहते थे। आप व्रज की व्यासगद्दी के विजयसखी नामक महात्मा के शिष्य थे, जिन्होंने आपका नाम प्रेमसखी रक्खा था। सखीभाव के उपासक होने के कारण आपकी रचना में प्रेम और माधुर्य की अच्छी छटा है। आपकी भाषा सरल, पद-विन्यास कोमल, ललित, सुसंबद्ध तथा स्वाभाविक और अनुप्रास सुसंयत तथा उचित मात्रा में हैं।

उदाहरण:—

ए रे मुकुटवार चरवाहे! गाय हमारी लीजौ।
जाय न कहूँ तुरत की ब्यानी सौंपि खुरक कै दीजौ॥
होहु चरावनहार गाय के बाँधनहार छुरैया।
करि दीजौ तुम आय दोहनी, पावे दूध लुरैया॥

गिरिधर कविराय; जन्म सं० १७७०

इनके वृत्त का कुछ पता नहीं। इनकी कुंडलियाँ ग्राम-ग्राम में प्रसिद्ध हैं। इनको संसार का अच्छा ज्ञान था, जिसका इन्होंने सीधी-सादी भाषा में अच्छा परिचय दिया है।

गुमानमिश्र; रचनाकाल १८००–१८४०

महोबानिवासी गोपालमणि के पुत्र गुमानमिश्र ने पिहानी के राजा

अकबरअलीखां के आश्रय में सं० १८०० में नैषध काव्य का कई छंदों में अनुवाद किया था। जिन श्लोकों के भाव जटिल नहीं हैं, उनका अनुवाद स्वतन्त्र रचना के रूप में प्रतीत होता है; किंतु कठिन श्लोकों के अनुवाद में मिश्र जी पूर्णतया सफल नहीं हो पाये। आपकी कविता में अनुप्रास की छटा देखने योग्य है। उदाहरणः—

दिग्गज दबत दबकत दिगपाल भूरि
धूरी की धूंधेरी सों अँधेरी आभा भान की।
धाम औ धरा को माल बाल अबला को अरि,
तजत परान, राह चाहत परान की॥
सैयद समर्थ भूप अली अकबर-दल,
चलत बजाय मारू दुंदुभी धुकान की।
फिरि फिरि फननि फनीस उलटतु ऐसे,
चोली खोलि ढोलि ज्यों तमोली पाके पान की॥

सूदन; रचनाकाल १८२० के आसपास

ये मथुरा के रहने वाले माथुर चौबे थे और भरतपुर के महाराजा सुजानसिंह (उपनाम सूरजमल) के यहाँ रहते थे, जिनकी प्रशंसा में इन्होंने सुजानचरित्र नाम का बड़ा ग्रंथ लिखा था, जिसमें १८०२ से १८१० तक की घटनाओं का वर्णन है।

वीररसात्मक होने पर भी यह ग्रंथ भाव और भाषा की संस्कृति और गंभीरता के अभाव के कारण शिवाबावनी तथा छत्रसालप्रकाश की कोटि का नहीं ठहरता। सूदन के वर्णन शिथिल और आवश्यकता से अधिक फैले हुए हैं; साथ ही ये आवश्यक और अनावश्यक वस्तुओं के नाम गिनाने के भी शौकीन हैं।

इनकी भाषा में ब्रजभाषा, खड़ी बोली, मारवाड़ी, राजस्थानी, पूरबी

तथा पंजाबी का संमिश्रण है; और उसमें शब्दों को भरपूर तोड़ा-मरोड़ा गया है।

उदाहरणः—

दब्बत लुत्थिनु अब्बत इक्क मुखब्बत से।
चब्बत लोह अचब्बत शोनित गब्बत से॥
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित इक्क मही।
जुट्टित फुट्टित सीस, सुखुट्टित तेग गही॥
कुट्टित घुट्टित काय बिछुट्टित प्रान सही।
छुट्टित आयुध, हुट्टित गुट्टित देह दही॥

बोधा; जन्म सं० १८०४

ये राजापुर, जिला बाँदा के रहने वाले सरयूपारीण ब्राह्मण थे और अपने यथार्थ नाम बुद्धिसेन के बजाय बोधा नाम से विख्यात हुए। विरहवारीश और इश्कनामा नाम के दो ग्रंथ इनके प्रसिद्ध हैं। विरहवारीश पन्ना दरबार की सुभान नामक वेश्या की याद में लिखा गया था।

आप भावुक रसज्ञ कवि थे। आपकी रचना का उदाहरणः—

अति खीन मृनाल के तारहु तें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई-बेह कै द्वार सकै न तहाँ, परतीति को टाँडो लदावनो है॥
कवि बोधा अनी घनी नेजहु तें, चढि ता पै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा, तरवारि की धार पै धावनो है॥

मधुसूदनदास; सं० १८३९ में रामाश्वमेध रचा

माथुर चौबे कवि मधुसूदन ने गोविन्ददास नामक किसी व्यक्ति के अनुरोध से संवत् १८३९ में रामाश्वमेध नामक मनोहर प्रबंधकाव्य रचा।

इसमें अश्वमेध यज्ञ की रक्षा में तत्पर लव और कुश के पराक्रमों का ओजस्वी तथा रुचिकर वर्णन है। उदाहरण :—

निरखि कालजित कोपि अपारा। विदित होय करि गदा प्रहारा॥
महावेगयुत आवै सोई। अष्टधातुमय जाय न जोई॥
अयुत भार भरि भार प्रमाना। देखिय जमपति दंड समाना॥
देखि ताहि लव हनि इषु चंडा। कीन्ही तुरत गदा त्रय खंडा॥

संमन; जन्म सं० १८३४

कवि संमन मल्लावाँ, जिला हरदोई के रहने वाले और जाति के ब्राह्मण, संवत् १८३४ में उत्पन्न हुए थे। इनके नीतिसंबंधी दोहे 'दिनों के फेर' आदि के विषय में स्त्रियों तक के मुंह से सुने जाते हैं। उदाहरण :—

निकट रहै आदर घटै, दूरि रहै दुख होय।
संमन या संसार में प्रीति करौ जनि कोय॥
संमन मीठी बात सों होत सबै सुख पूर।
जेहि नहिं सीखो बोलिबो, तेहि सीखो सब धूर॥

चंद्रशेखर; सं० १८५५-१९३२

प्रसिद्ध वीर काव्य 'हम्मीरहठ' के रचयिता, वाजपेयी ब्राह्मण, कवि चंद्रशेखर का जन्म संवत् १८५५ में, मुअज्जमाबाद, जिला फतहपुर में हुआ था। दरभंगा तथा जोधपुर में कुछ काल रहकर आपने अंत में पटियाला रहते हुए वहाँ के राजा नरेंद्रसिंह के कहने पर हम्मीर हठ रचा। इसके अतिरिक्त आपने विवेकविलास, रसिकविनोद, हरिभक्तिविलास, नखसिख, वृन्दावनशतक, गुहपंचाशिका, ताजक ज्योतिष और माधवीवसंत नाम के ग्रन्थ भी रचे थे।

भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से हम्मीरहठ उत्कृष्ट रचना उतरती है। रणथंभौर के दर्पपरिपूर्ण दृश्यों का आपने ओजस्वी भाषा में चित्रण किया है,

वो प्रेमप्रसंगों का रसस्निग्ध मधुर भाषा की कोमल कांत पदावली द्वारा। सूदन की भाँति आपने अपनी रचना में वस्तुओं की सूचियाँ नहीं दीं और न ही उनके समान आपने चुट्टित, खुट्टित जुट्टित फुट्टित आदि असाहित्यिक शब्दों का ही प्रयोग किया। आपकी रचना का उदाहरण :—

थोरी थोरी वैसवारी नवल किसोरी सबै,
भोरि भोरि बातन बिहँसि मुख मोरतीं।
बसन बिभूषन बिराजत बिमल वर,
मदन मरोरति तरकि तन तोरतीं।
प्यारे पातसाह के परम अनुराग-रँगीं,
चायभरी चायल चपल दृग जोरतीं।
काम अबला सी कलाधर की कला सी,
चारु चंपकलता सी चपला सी चित चोरतीं॥

दीनदयालगिरि; सं० १८५६-१९१५

काशीनिवासी, गिरिशाखा के गोसाईं कवि दीनदयाल शुक्रवार, वसंत-पंचमी, संवत् १८५६ में उत्पन्न हुए और आगे चलकर बाबू हरिश्चंद्र के पिता बाबू गोपालचंद्र(उपनाम गिरिधरदास) के मित्रों में हुए। आपका अन्योक्ति-कल्पद्रुम हिंदी में अनूठी रचना है। इसके अतिरिक्त आपने अनुरागबाग, वैराग्यदिनेश, विश्वनाथनवरत्न और दृष्टांततरंगिणी नाम के ग्रंथ भी रचे हैं। कलापक्ष और हृदयपक्ष दोनों की दृष्टि से आपकी रचना उत्कृष्ट संपन्न हुई है। उदाहरण :—

चल चकई तेहि सर विषै जहँ नहिं रैनि-बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही, सुहृद हंस-संदोह॥
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाको।
भोगत सुख-अंबोह, मोह-दुख होय न ताको॥

वरनै दीनदयाल भाग बिन जाय न सकई।
पिय-मिलाप नित रहै, ताहि सर चल तू चकई ॥

\+ \+ \+ \+

चरन कमल राजैं, मंजु मंजीर बाजैं।
गमन लखि लजावैं हंसऊ नाहिं पावैं ॥
सुखद कदम छाहीं क्रीडते कुंज माहीं।
लखि लखि हरि शोभा चित्त काको न लोभा ॥

ठाकुर; सं० १८२३—१८८०

ठाकुर नाम के तीन कवि हुए हैं—दो असनी के और तीसरे बुंदेलखंडी। तीसरे ने साहित्यक्षेत्र में प्रचुर ख्याति पाई। आप जाति के कायस्थ थे और आपका जन्म संवत् १८२३ में,ओरछा में हुआ था। आपका पूरा नाम ठाकुरदास था। पाठविधि समाप्त करके आप जैतपुरनरेश के दरबार में रहे, जहाँ आपका भरपूर संमान हुआ। वहां कभी कभी आपका पद्माकर से भी मेल होता रहता था। संवत् १८८० में आप परलोक सिधारे। स्वर्गीय लाला भगवानदीन ने आपकी रचना का संग्रह ठाकुरठसक के नाम से प्रकाशित किया है।

कवि ठाकुर व्यापक कवि थे और इनके हृदय में कवित्व की सच्ची उमंग भरी थी। प्रेम की सूक्ष्म स्निग्ध भावनाओं के साथ साथ आपने फाग, वसंत, होली आदि उत्सवों के उल्लास पर, जनसमाज की क्षुद्रता, कुटिलता, कदर्यता पर और काल की अचूक धाँधली पर भी साहित्यिक व्रजभाषा में निसर्गसिद्ध कविता की है।

आपकी रचना का उदाहरण: —

आवने आवने सुठि गेहन में चढे दोऊ सनेह की नाव पै री।
अँगनान में भींजत प्रेमभरे, समयो लखि मैं बलि जावँ पै री ॥

कहै ठाकुर दोउन की रुचि सों रँग ह्वै उमड़े दोउ ठावँ पै री।
सखी, कारी घटा बरसै बरसाने पै, गोरी घटा नँदगाँव पै री॥

पजनेस; रचनाकाल १९०० के आसपास

पन्नानिवासी कवि पजनेस का रचनाकाल १९०० के आसपास माना जाता है। इनकी स्फुट कविताओं का संग्रह पजनेसप्रकाश के नाम से प्रकाशित हो चुका है, जिसमें १२७ कवित्त सवैया हैं। इनका स्थान ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों में है। शृंगाररस की कविता करते हुए भी आपने टवर्ग का परित्याग नहीं किया। आप फ़ारसी के अच्छे पंडित थे।

उदाहरण:—

पजनेस तसद्दुक ता बिसमिल जुल्फै फुरकत न कबूल कसे।
महबूब चुनाँ बदमस्त सनम अजदस्त अलावल जुल्फ बसे॥
मजमूए, न काफ़, शिगाफ़ रुए सम क्यामत चश्म से खूँ बरसे।
मिज़गाँ सुरमा तहरीर दुता नुक़ते, बिन वे, किन ते, किन से॥

गिरिधरदास; १८९०—१९१७

बाबू हरिश्चन्द्र के पिता और ब्रजभाषा के पहुँचे कवि, बाबू गिरिधरदास (असली नाम गोपालचंद्र) का जन्म पौष कृष्णा १५, संवत् १८९० में हुआ था। इनके पिता हर्षचन्द्र इन्हें ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही छोड़कर स्वर्ग सिधार गये थे। इन्होंने निज की उमंग और प्रयत्न से संस्कृत और हिंदी में अच्छी पटुता प्राप्त की और आगे चलकर ४० के लगभग ग्रंथ रचे। इनका परलोकवास १९१७ में हुआ।

आपके ग्रंथों में कई अच्छे बड़े हैं और कुछ छोटे। जरासंधवध के केवल ग्यारह सर्ग प्राप्त हैं। गर्गसंहिता आदि भक्तिमार्ग की कथाओं में आपने सरल तथा सुबोध भाषा का उपयोग किया है! किंतु काव्यकौशल

की दृष्टि से रची कृतियों (जरासंधवध, रसरत्नाकर आदि) में यमक और अनुप्रासों का इतना प्रचुर प्रयोग किया है कि कहीं कहीं भाव अलंकारों के भार में दब गया है।

आपकी रचना का उदाहरण :—

जगह जड़ाऊ जामें जड़े हैं जवाहिरात,
जगमग जोति जा की जग में जमति है।
जा में जदुजानि जान प्यारी जातरूप ऐसी,
जगमुख ज्वाल ऐसी जोन्ह सी जगति है॥
गिरिधरदास जोर जबर जवानी को है,
जोहि जोहि जलजा हू जीव में जकति है।
जगत के जीवन के जिय को चुराए जोय,
जोए जोषिता को जेठ-जरनि जरति है॥

द्विजदेव

अयोध्यानरेश मानसिंह का नाम द्विजदेव था। शृंगारबतीसी और शृंगारलतिका नामक दो ग्रंथ आपने रचे हैं। आपके कवित्त कविता-प्रेमियों में प्रसिद्ध हैं। व्रजभाषा के शृंगारी कवियों में आपको अंतिम समझना चाहिए। आपका ऋतुवर्णन ऋतुओं का सवाक् चित्र है। अनुप्रासों की पाँति लगे रहने पर भी आपकी भाषा असंस्कृत नहीं होने पाई।
उदाहरण : —

मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज विनोद-लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लतागन तानि वितान सबै विधि चित्त चुरायो करैं॥
द्विजदेव जू देखी अनोखी प्रभा अलि चारन कीरति गायो करैं।
चिर जीवो, बसंत ! सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करैं॥

उपसंहार

कविता की जो धारा आचार्य केशव और चिंतामणि आदि ने प्रवाहित

की थी, वह देव, बिहारी तथा मतिराम की रचनाओं में परिपूर्ण हो पद्माकर, प्रतापसाहि आदि की कृतियों में धीमी पड़ गई। जिस काल में कबीर, तुलसी और सूर जैसे अमर कवियों ने प्रेमोद्रेक से तरंगित हो अपनी रागिनियों के अमृतवर्षी झंकार से देश को प्लावित किया था, वह काल हिंदी कविता के लिए सचमुच सौभाग्य का काल था। इन कवियों की रचनाओं में लोक-पक्ष और अध्यात्मपक्ष के रुचिर सामंजस्य के साथ साथ कवित्व का सर्वांगीण संप्रदर्शन हुआ है और कला ने, बिना किसी प्रयास के सर्वात्मना भाव की सेवा की है।

इसके विपरीत रीतिमार्ग के युग में कविता आत्मसंवेदना की परिपोषिका न रहकर वासना और विलास के पंक में फँसे नृपतिवर्ग की चेरी बन गई थी; और इन नृपतियों के दरबारों में रहकर फ़र्मायशी प्रतिभा का चमत्कार दिखाने वाले कवियों की जादूगरी में बँध गई थी। अब कविता का ध्येय आत्मानुभूति का निरूपण न रहकर नायक-नायिकाओं के भेदोपभेद का परिगणन और उनके भाव, विभाव और अनुभाव आदि का विश्लेषण बन गया था।

यह सब होते हुए भी इस काल के कतिपय कवियों ने कविता को एकमात्र रसनिष्पत्ति का साधन न बना उसके द्वारा प्रेम के सूक्ष्म तत्त्वों का सजीव चित्रण किया है। ऐसे कवियों का स्थान सौंदर्यस्रष्टा मौलिक साहित्यकारों के बीच चिर काल तक रहेगा।

उत्तरार्ध

नवीनयुग—संवत् १६०० से अब तक

अध्याय १२

नवीनयुग की झांकी

अठारहवीं सदी के पश्चात् भारत के इतिहास में युगांतर उपस्थित होता है। वास्तव में इस समय नवीन युग का आगमन भारत ही में नहीं, अपितु यूरोप और अमेरिका में भी हुआ। नवीनता का प्रभाव राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति पर ही नहीं, प्रत्युत साहित्य पर भी यथेष्ट पड़ा। लार्ड वेल्ज़ली के पश्चात् भारत में अंग्रेज़ी राज्य की जड़ जम गई। रही सही कमी १८१८ ईसवी तक पूरी होगई। यों तो अब भी इधर-उधर छोटी-मोटी लड़ाइयाँ होती रहीं, किंतु उनका देश के समष्टि जीवन पर विशेष प्रभाव न पड़ा। देश की शांत परिस्थिति को देख सरकार ने १८१३ में एक लाख रुपये शिक्षा-प्रचार में प्रदान किये। १८२४ में भारतीय भाषाओं की उन्नति के लिए तथा ग्राम्य पाठशालाओं के जीर्णोद्धार के लिए व्यवस्था की गई और अंत में १८५७ ईसवी में कलकत्ता, मद्रास और बंबई के विश्वविद्यालय खोले गये। इन बातों से भारत की प्रमुख भाषा हिंदी के गद्य का प्रचार हुआ, क्योंकि आरंभिक शिक्षा साधारणतया गद्य ही में दी जाती है।

भारत में पादरियों का आगमन हुआ। यों तो मुग़ल-साम्राज्य में भी पादरियों ने अपने धर्म का प्रचार किया था, किंतु उस प्रचार का देश पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। परंतु अब देश की सरकार ईसाई धर्म को मानती थी, इसलिए पादरियों का प्रभाव बढ़ गया और वे अपनी पुस्तकों का हिंदी आदि भाषाओं में अनुवाद कर अपने धर्म का लोकसाधारण में प्रचार करने लगे। देश के शिक्षित वर्ग को ईसाइयत का मंत्र पढ़ाने के लिए इन्होंने जगह जगह पाठशाला और महाविद्यालय खोले। इन सब बातों से

हिंदी के प्रचार में सहायता मिली और उसमें भिन्न भिन्न विषयों पर सामयिक रचनाएँ होने लगीं।

ईसाइयों ने हिंदी के द्वारा धर्मप्रचार करने की परिपाटी डाल अत्यंत दूरदर्शिता का काम किया था; और उनकी यह दूरदर्शिता, कबीरपंथ आदि सम्प्रदायों की भांति, जिन्होंने कि अपने प्रचार के लिए शिक्षित वृंद की भाषा संस्कृत को छोड़ देश की साधारण भाषा हिंदी का सहारा लिया था, पूर्ण रूप से फलीभूत भी शीघ्र ही हो जाती यदि उत्तर भारत में स्वामी दयानन्द और हरिश्चंद्र और बंगाल में ब्रह्मसमाज के प्रवर्तकों ने ईसाइयों की उपकारक बातों को अपना उनकी घातक बातों का खंडन करके देश को अपनी प्राचीन सभ्यता तथा शिक्षा की ओर अग्रसर न किया होता।

ब्रिटिश राज्य की स्थापना तथा पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से देश में यातायात के साधनों का परिष्कार हुआ। प्रेस का आविर्भाव हुआ। पुस्तकों और पत्रों का प्रकाशन आरंभ हुआ। सांसारिक विषयों पर रचनाएँ आरंभ हुईं। पद्य के स्थान में गद्य का विकास हुआ।

गद्य की वृद्धि और सांसारिक विषयों पर होने वाली रचनाओं के आधिक्य से काव्यपक्ष दुर्बल हो गया। कविता की कोई नवीन धारा न निकली। प्राचीन धाराओं का ह्रास होता गया। देश में प्रतिभा की न्यूनता हो गईं। सरकार द्वारा बलात् स्थापित की गई शांति में आत्मा का विकास न था, प्रतिभा का चमत्कार न था। इस मोहमयी शांति से ब्राह्मणों का मस्तक भ्रष्ट हो गया, क्षत्रियों की भुजाएँ निर्वीर्य हो गईं, वैश्य किंचिज्ज्ञ उदरंभरि बन गये और शूद्रों में अनुचित स्वच्छंदता का संचार हो गया। देश की राष्ट्रीयता लुप्त हो गई, जन्मभूमि का प्रेम फीका पड़ गया और वीररसात्मक कविता का तिरोधान हो गया। फलतः उच्चकोटि के साहित्य की न्यूनता हो गई। १८५७ में राजविद्रोह हुआ; उसके पश्चात् सरकार ने देश का शासन कंपनी से छीन सीधा अपने हाथ में ले लिया। तब से भारत की दशा में विचारणीय परिवर्तन हुए। विश्वविद्यालयों ने अंग्रेजी शिक्षा का

प्रचार किया। हाईकोर्टों ने अंग्रेज़ी ढंग का शासन फैलाया और भारतवासी अधिक संख्या में इंग्लैंड तथा अन्य विदेशों को जाने लगे, जिसका एक प्रभाव यह हुआ कि शिक्षितवर्ग में स्वतंत्रता का विचार प्रबल होने लगा और वे विधेयात्मक उपायों से स्वराज्य-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने लगे। धार्मिक क्षेत्र में जागृति हुई। आर्यसमाज ने पाश्चात्य सभ्यता की श्रेयस्कर बातों को अपनाया, उसकी घातक प्रवृत्तियों को ठुकराया और देश की भिन्न भिन्न जातियों को समता का उपदेश दे धार्मिक तथा सामाजिक स्वातंत्र्य की दीक्षा दी। इस प्रकार पाश्चात्य तथा पौरस्त्य सभ्यताओं के संकलन से देश में आदर्श परिस्थिति का अभ्युदय हुआ, जिसके फलस्वरूप महात्मा गांधी और कविसम्राट् रवींद्र आज भारत को और उसके द्वारा संसार को ज्ञान और विज्ञान दोनों दृष्टियों से आत्मतत्त्व की एकता तथा निष्काम भाव से किये गये कर्ममात्र की पवित्रता का उपदेश दे मनुष्य समाज को उसके ऐहिक श्रेय अभ्युदय तथा चरम ध्येय निःश्रेयस की ओर अग्रसर कर रहे हैं।

इस काल में गद्य की उन्नति हुई। प्राचीन गद्य प्रधानतया व्रजभाषा में था। खड़ी बोली का सिक्का जमने लगा और लोग निःशंक हो खड़ी बोली में विचार-प्रकाशन करने लगे। शनैः शनैः पद्य भी खड़ी बोली में लिखा जाने लगा, किंतु कुछ लोग अब भी कविता एकांततः व्रजभाषा ही में करते रहे। शृंगार की कविता कम होने लगी, रीतिमार्गी कविता की चाल धीमी हुई, काव्यकला शिथिल पड़ गई, और कविता का उत्कर्ष घट गया। कवि भावों के साथ भाषा को सजाने में लगे रहे। युगों के परिवर्तनकाल में जीवन के प्रत्येक रूप में एक विचित्र दृश्य दिखलाई देता है। एक ओर पुरानी बातों से ध्यान हटने लगता है, और दूसरी ओर नवीन युग की बातों से पूरा पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। ऐसा समय बेढब होता है और जितनी ही जल्दी इसका अंत हो जाय, उतना ही अच्छा; परंतु भारत में परिवर्तन का यह काल बहुत दिनों तक

बना रहा। १६ वीं सदी के पहिले ६० वर्षों में अच्छे कवियों की संख्या न्यून रही।

१८६० के पश्चात् स्वामी दयानन्द तथा भारतेंदु हरिश्चंद्र के साथ यह दशा बदल जाती है और हिंदी के, विशेषतः खड़ी बोली के अच्छे नक्षत्र उदित होते हैं। एक ओर नवीन धर्मप्रचारक, दूसरी ओर प्रेस, पत्र-पत्रिकाओं की पूरी शक्ति, तीसरी ओर सभा-संमेलनों का कार्य, और चौथी ओर नाटक की वृद्धि और कवियों का सहारा इन सब ने मिलकर प्रस्तुत वैज्ञानिक काल में अपना प्रभाव दिखलाया और चारों ओर खड़ी बोली के गद्य का प्रचार कर दिया।

स्वराज्य-आंदोलन की अभिवृद्धि के साथ नवीन प्रकार की कविता का अभ्युदय हुआ और देश में पाश्चात्य तथा पौरस्त्य कविताओं के संकलन से उत्पन्न हुई नवीन विचारधारा के अनुरूप उत्कृष्ट कविता होने लगी।

आगामी अध्यायों में आधुनिक युग के प्रमुख लेखकों तथा कवियों की कृतियों पर विचार किया जायगा।

———

अध्याय १३

आधुनिक युग, व्रजभाषा काव्य

पिछले अध्याय में बताया गया है कि भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित होने के साथ-साथ यहां की राजनीतिक,सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थिति में परिवर्तन हुआ और हिंदी कविता जो पहले शृंगार, धर्म तथा रीति के विश्लेषण में रत थी,नवीनयुग में सामाजिक स्वातंत्र्य,देशरक्षा और उसके सर्वांगीण अभ्युदय की ओर अग्रसर हुई।

किंतु साहित्यक्षेत्र में यह परिवर्तन सहसा प्रस्फुटित न हो शनैः शनैः बाबू हरिश्चंद्र की रचनाओं में प्रादुर्भूत हुआ और उनके पीछे आने वाले कवियों की कृतियों में परिपूर्ण हुआ।

हरिश्चंद्र से पूर्व प्राचीन परिपाटी को प्रचलित रखने वाले कवियों में सेवक कवि (संवत् १८७२-१९३२), जिन्होंने वाग्विलास में नायिकाभेद का निरूपण किया है; सरदार (रचनाकाल १९०२-१९४०), जिनके रचे साहित्यसरसी,षड्ऋतु,हनुमंतभूषण और साहित्यसुधाकर प्रसिद्ध हैं; ललित-किशोरी तथा ललितमाधुरी, जिन्होंने कृष्णलीला पर मधुर गीत गाये हैं; आगरानिवासी राजा लक्ष्मणसिंह (१८९३-१९५३), जिन्हों ने कालिदास-कृत शकुंतला, रघुवंश और मेघदूत का सुन्दर अनुवाद किया है; लछिराम भट्ट, जिनका रावणेश्वरकल्पतरु नाम का रीतिग्रंथ प्रसिद्ध है, विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इन लोगों की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण अवश्य थीं; किन्तु उनमें नवीन युग की नवीनता का प्रतिफलन न था। शृंगार और रीति अब भी कविता पर एकाधिपत्य बनाये बैठे थे, और वास्तविक कवित्व की दृष्टि से हिंदी अब भी पतन की ओर झुक रही थी।

हिंदी की पतनोन्मुख शृंगारिक कविता के प्रतिकूल आयोजन उस दिन हुआ, जिस दिन भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रने अपनी मधुर ब्रजभाषामयी बाँसुरी पर देशवासियों को भारतदुर्दशा नामक नाटक के मार्मिक गीत सुनाये और उन्हें देश, भाषा और जाति के अभ्युत्थान की ओर अग्रसर किया। यह ठीक है कि भारतेंदु से पहले भी भूषण, लाल और सूदन आदि कवियों ने वीरता और उत्साह का फड़फड़ाता सजीव चित्र राजपूतों के सामने प्रस्तुत किया था; किंतु वह चित्र भारतीय जाति के अंगविशेष और भारतराष्ट्र के खंडविशेष के लिए अभिप्रेत था। व्यक्ति रूप में महत्वपूर्ण होने पर भी वह अखिल राष्ट्र की प्रशंसा में न लिखा जाकर आश्रयदाता नृपतियों की प्रशंसा के रूप में व्यक्त हुआ था। देश की विभिन्न जातियों और उसके विविध भूखंडों की परिधि को लाँघकर समग्र जाति और समस्त राष्ट्र के प्रति आत्मीयता का प्रवाह सब से पहले भारतेंदु ही की रचनाओं में प्रवाहित हुआ है। उन्हीं की भव्य कृति में हमें सबसे पहले हिंदू और मुसलमान दो नयनोंवाली, मुक्तकेशिनी, धूलिधूसरिता परवशा भारत माता के दर्शन हुए हैं और उन्हीं की अमर रचनाओं में हमें सबसे पहले उस विधुरवदना कातराक्षी को परतन्त्रता के पाश से मुक्त करने का संकेत तथा प्रयास दृष्टिगत हुआ है। इन सभी दृष्टियों से हिंदी कविता का आधुनिक युग भारतेंदु जी ही से प्रारंभ हुआ मानना उचित है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र; १६०७–१६४२

भारतेंदु हरिश्चन्द्र का जन्म, संवत् १६०७, भाद्रपद शुक्ला सप्तमी को काशी के प्रतिष्ठित रईस घराने में हुआ था। अभी ये पाँच वर्ष के भी न होने पाये थे कि इनकी माता का देहांत हो गया और दस वर्ष की आयु होने के पूर्व ही इनके पिता भी स्वर्गवासी हो गये। क्वींस कालेज में इनका जैसा-तैसा शिक्षण हुआ। पंद्रह वर्ष की अवस्था में इन्होंने सकुटुंब जगदीशपुरी की यात्रा की और इसके साथ ही इनकी शिक्षा भी बस हो गई।

१६२२ में ये सकुटुंब जगन्नाथ जी गए। उस समय सिपाही-विद्रोह शांत हो चुका था और बंगाल में अंग्रेजीराज की धूम थी। बंगाली लोग शिक्षा से लाभ उठा देश और राजनीति की बातों में अग्रसर हो रहे थे। बंगाल की यात्रा ने आपके जीवन पर स्थायी प्रभाव डाला। इस यात्रा से इन्हें बंगसाहित्य के अध्ययन का और बंगीय नाटकों के देखने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। इनका पहला नाटक विद्यासुन्दर, जो संवत् १६२५ में प्रकाशित हुआ था, एक बंगीय नाटक का अनुवाद है। इसके अतिरिक्त विधवाविवाह आदि समाजसुधार की बातों से भी ये पहले-पहल यहीं परिचित हुए। इस यात्रा के आरंभ में एक अत्यंत साधारण घटना हुई, जिसने इनके जीवन को कुछ का कुछ बना दिया। चलते समय एक महाशय ने इन्हें चुपचाप दो अशर्फियां देकर कहा कि यदि विमाता के कारण आपको कभी किसी प्रकार का कष्ट हो और आप मनचाही वस्तु न पा सकें, तो ये अशर्फियाँ आपके काम आयँगी। इन्हीं दो अशर्फियों ने इनमें ऋण लेकर मनचाही बात पूरा करने की बान डाली, जिससे इनके जीवन का अंतिम भाग बड़ी कठिनाई में बीता। अस्तु, १६३६ में ये महाराणा सज्जनसिंह के निमंत्रण पर तथा श्रीनाथ द्वारे के दर्शन की इच्छा से मेवाड़ गये। वहाँ से लौटने पर बीमार पड़े, पर अच्छे हो गये। संवत् १६४१ में ये बलिया गये। यह इनकी अन्तिम यात्रा थी। इसके पश्चात् ये कहीं न जा सके; और १६४२ में इस असार संसार को छोड़ गोलोकवासी हुए, इन्होंने कुल पैंतीस वर्ष की आयु पाई और सत्रह-अठारह वर्ष सार्वजनिक कामों में भाग ले देश और मातृभाषा की वह सेवा की, जो इनकी स्मृति को सदा बनाये रक्खेगी।

जगदीशयात्रा से लौटने पर विद्यासुन्दर के अनुवाद के साथ इनका सार्वजनिक जीवन आरंभ होता है। संवत् १६२४ में इन्होंने चौखम्भा स्कूल (वर्तमान नाम हरिश्चन्द्र हाई स्कूल) की स्थापना की। संवत् १६२७ में कवितावर्धिनी सभा की स्थापना की। सम्वत् १६३० में पेनी

रीडिंग क्लब खोला। पिछली दोनों संस्थाएँ शीघ्र ही बन्द हो गईं।

साहित्यिक जीवन में इन्होंने सबसे पहले, संवत् १९२५ में विद्यासुन्दर नाम का नाटक रचा। इसी वर्ष इन्होंने कविवचनसुधा नाम का मासिक पत्र निकाला, जो इनकी मृत्यु के पीछे तक प्रकाशित होता रहा। संवत् १९३० में हरिश्चंद्र मेगजीन प्रकाशित की, जो इनकी मृत्यु के उपरांत बंद हो गई। १९३१में स्त्रियों के लिए बालाबोधिनी नाम का पत्र निकाला; यह भी कुछ दिनों पश्चात् बंद हो गया।

हरिश्चंद्र स्वभावतः देशप्रेमी थे और मानवचरित्र के प्रवीण ज्ञाता थे। इनकी पद्यात्मक तथा गद्यात्मक दोनों प्रकार की रचनाओं में देशप्रेम का भाव आप्लावित है। चाहे जैसा अवसर हो, चाहे जिस प्रकार की रचना की आवश्यकता हो, भारतेंदु अपने देश को नहीं भूलते और रह रह कर इन्हें उसके अतीत गौरव, वर्तमान पतन और भावी अभ्युत्थान का ध्यान आ ही जाता है। भारतदुर्दशा, नीलदेवी तथा अँधेरनगरी आदि रचनाओं में देश-प्रेम के भाव कूट-कूटकर भरे हैं। भारतदुर्दशा के आरम्भ में आप लिखते हैं—

रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सब के पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सब के पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो॥
अब सब के पीछे सोई परत लखाई।
हा! हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥

आगे चलकर छठे अंक में:—

सोअत निसि बैस गँवाई, जागो जागो रे भाई।
निसिकी कौन कहै दिन बीत्यौ काल रीति चलि आई॥
देख परत नहिं हित अनहित कछु, परे बैरिबश जाई।
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई॥

अब हूँ चेति पकरि राखौ किन जो कछु बची बड़ाई।
फिरि पछिताए कछु नहिं ह्वैहै रहि जैहौ मुँह बाई॥

इसके आगे भारत के अतीत गौरव का ऐसा मनोहर चित्र खींचा है, जिसे पढ़ते ही हृदय देशाभिमान से प्लावित हो जाता है, और अंत में उसकी वर्तमान हीन अवस्था पर कवि का उद्गार "सोइ भारत की आज यह भई दुर्दसा हाय" उसके क्षोभ और उद्वेग को सूचित करता है। इसी प्रकार नीलदेवी के आठवें अंक में :—

कहाँ करुनानिधि केसव सोए?
जागत नेक न जदपि बहुत विधि भारतवासी रोए॥
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारतहित बिसराए।
इनके पसु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए॥

यह कहकर आप अपने उत्कट देशप्रेम का परिचय देते हैं।

संक्षेप में हम काव्य को भाव, भाषा और शैली इन तीन भागों में बाँट सकते हैं। हरिश्चन्द्र का व्यापक भाव देशप्रेम था, यह बात ऊपर दिखाई जा चुकी है। इसी के साथ शृंगार के वर्णन में भी आप अत्यन्त विदग्ध दीख पड़ते हैं। आपकी निम्न कविता में ईश्वरीय प्रेम का मार्मिक संसूचन है :—

प्यारो पैये केवल प्रेम में।
नहीं ज्ञान में नहीं ध्यान में नहीं करम कुल नेम में।
नहिं मंदिर में नहिं पूजा में नहिं घंटा की घोर में।
हरीचंद वह बाँध्यो डोलै एक प्रेम की डोर में॥

इनका शृंगार भी पढ़ने योग्य है :—

तू केहि चितवत चकित मृगी सी।
केहि ढूँढति तेरो कहा खोयो,
क्यों अकुलाति लखाति ठगी सी।

तन सुधि करु उघरत री आँचर,
कौन खयाल तू रहती लगी सी ॥
उतर न देत जकीसी बैठी,
मद पियकै रैन जगी सी।
चौंकि चौंकि चितवति चारिहु दिसि,
सपने पिय देखति उमगी सी ॥

हास्यरस की कविता में आपने कमाल किया है चूरन वाली कविता इस दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है:—

चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते ॥
चूरन खाते लाला लोग। जिनको अकिल अजीरन रोग ॥
चूरन खावैं एडिटर जात। जिनके पेट पचे नहिं बात ॥
चूरन साहब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता ॥
चूरन पूलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते ॥
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर। इत्यादि

इतिहास में भी इन्होंने काश्मीरकुसुम तथा चरितावली, जिसमें भारत तथा यूरोपीय महापुरुषों की जीवनियाँ हैं, नाम के दो उत्कृष्ट ग्रंथ लिखे हैं। इस प्रकार भावपक्ष की दृष्टि से हम हरिश्चंद्र की कविताको सर्वाङ्गीण पाते हैं।

भारतेंदु ने शैली में भी नवीनता का प्रदर्शन किया है। उनसे पहले के कवियों ने कृत्रिमता की पराकाष्ठा कर दी थी। कवित्त, घनाक्षरी और सवैया में ही प्रायः सब रचनाएँ होती थीं। कभी कभी दोहे और कुंडलियों का भी विरल उपयोग हो जाता था। भारतेंदु ने विविध प्रकार के राग और रागिनियों का सूत्रपात किया। उन्होंने बहुत से पद उदू की बहरों में लिखे। सब से मुख्य बात जो शैली के विषय में उन्होंने नवीन प्रवर्तित की, वह थी व्यापक विषयों के प्रतिपादन को काव्यकला का मुख्य उद्देश्य बनाना। अपने

पूर्ववर्ती कवियों की भांति अलंकार-निरूपण के लिए कविता रचना इन्हें नहीं रुचा। इतने पर भी इनकी रचना में अलंकारों की सहज छटा आ ही गई है। इनके यमुनावर्णन में उत्प्रेक्षा की सुन्दर उद्भावना है:—

परत चंद्र प्रतिबिंब कहूँ जलमधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरिदरसन हेत चंद जल बसत सुहायो।
कै तरङ्ग कर मुकुर लिए सोभित छबि छायो॥
कै रासरमन में हरिमुकुट आभा जल दिखरात है।
कै जलउर हरिमूरति बसति वा प्रतिबिंब लखात है॥

वायुवेग से चलायमान हुई यमुना की लहरों में डोलते हुए चंद्रमा पर आपकी उत्प्रेक्षा पढ़ते ही बनती है:—

मनु ससि भरि अनुराग जमुनजल लोटत डोलै।
कै तरङ्ग की डोर हिंडोरन करत कलोलै॥
कै बालगुडी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोउ व्रजरमनी आवती॥

भारतेंदु की कविता विशेषतः व्रजभाषा में और गद्य खड़ी बोली में हुआ करता था। किंतु आपने अपनी सर्वतोमुखी रचना में पंजाबी, अवधी, बंगला और उर्दू आदि की पुट भी मिलाई है। लल्लूजीलाल ने जिस भाषा का पट-परिवर्तन किया, लक्ष्मणसिंह ने जिसे सुधारा, उसको परिमार्जित करने और सुंदर सांचे में ढालने का श्रेय भारतेंदु जी को है। उनके समय में इस बात पर विवाद चल रहा था कि हिंदी में उर्दू शब्द बहुलता के साथ मिलाये जायँ अथवा नहीं। राजा शिवप्रसाद उर्दूनुमा हिंदी के पक्षपाती थे। इसके विरुद्ध भारतेंदु ने शुद्ध हिंदी का पक्ष लिया और उसको नये साँचे में ढाल कर एक नवीन शैली की स्थापना की। उनकी भाषा में माधुर्य तथा प्रसाद गुण का प्राचुर्य है। और वह प्रौढ़ता तथा प्रांजलता से संपन्न है। उन्होंने

स्वयं भी लिखा है—"हरिश्चन्द्र मेगज़ीन के उदय के साथ संवत् १९३० में हिंदी नये साँचे में ढली।"

उन्होंने देखा कि बहुत से शब्द, जिन्हें बोलचाल से उठे कई सौ वर्ष हो गये थे, कवित्त और सवैयों में बराबर खपाये जाते हैं,जिससे जन-साधारण का ध्यान हिंदी की ओर से फिरता जाता है। दूसरा दोष जो बढ़ते २ सीमा को पहुँच गया था, वह था शब्दों का तोड़-मरोड़ और गढ़े हुए शब्दों का मनमाना प्रयोग। बाबू हरिश्चन्द्र ने इन सब बातों को दूर करते हुए व्रजभाषा की रचनाओं के लिए मनोरम मार्ग दिखाया। उनकी भाषा बोलचाल की भाषा से मिलती हुई भी अत्यंत परिष्कृत तथा परिमार्जित है। जैसेः—

आजु लौं जो न मिले तो कहो,
हम तो तुम्हारे सब भाँति कहावैं।
मेरे उराहनो है कछु नाहिं,
सबै फल आपने भाग को पावैं॥
जो हरिचन्द भई सो भई,
अब प्रान चलै चाहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति,
विदा के समय सब कंठ लगावैं॥

यही कारण है कि इनकी कविता का इतनी शीघ्रता के साथ व्यापक संमान हुआ। "संक्षेप में भारतेंदु अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के कवि माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधा-कृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते हुए और स्त्रीशिक्षा, समाजसुधार आदि विषयों पर व्याख्यान देते पाये जाते थे। प्राचीन और नवीन के इसी सुन्दर सामंजस्य में भारतेंदु

की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के उस नवीन युग के प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नये२ या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का उदय अपेक्षित था, वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेंदु का उदय हुआ।"

किंतु यह सब कुछ होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भारतेंदु के परिपूर्ण मंडल में एक कलंक दृष्टिगत होता है और वह है प्रकृति के साथ होने वाले उनके रागात्मक संबंध का गहन और अविच्छिन्न न होना। जब हम महामहिम श्री वाल्मीकि अथवा भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदास के शरद्-वर्णन को पढ़ते हैं, तब शारदी सुषुमा स्वयं मूर्तिमती बनकर हमारी आँखों में समा जाती है और हमारा आत्मा रस के उद्रेक में लोकांतरित हो जाता है। जब हम रससिद्ध कवि सूरदास द्वारा खींचे गये यमुनातट और उसके प्रांतवर्ती कलित कुंजों और मधुवनों का चित्र देखते हैं, तब भारत की समस्त भव्य भावनाएँ और रचनाएँ हमें वहाँ केंद्रित हुई दृष्टिगत होती हैं, और हम अपने आपको उसी पूत यमुनातट पर स्थित हुआ पाते हैं। चेतन और अचेतन जगत् के साथ व्यक्त होने वाले इस रागात्मक संबंध की गहनता और अविच्छिन्नता पर ही कवि की विश्वजनीनता परिनिष्ठित होती है। भारतेंदु की प्रतिभा में उद्दीप्तता तथा सूक्ष्मता होने पर भी उक्त प्रकार की व्यापकता नहीं दीख पड़ती। यही कारण है कि मानवस्वभाव और चरित्र के चित्रण में जहाँ वे अप्रतिम पटु सिद्ध हुए हैं, वहाँ प्रकृति की मूक भाषा के व्याख्यान में वे अस्पष्ट और निर्बल रह गये हैं। गंगा जैसी पतितपावन सरिता के वर्णन में भी वे अपनी नागरिकता को नहीं भूल पाते और रह रह कर कामिनियों की वदनसुधा और उनके कलित कुचों को याद करते हैं। इसका कारण यह था कि भारतेंदु स्वयं नागरिक थे और प्रकृति की मूक विभूति का जो अनंत

प्रसार नगरों की परिधि के बाहर व्याप्त है, उसका साक्षात्कार उन्होंने कम किया था। साथ ही वे समाज-सुधारक आदि भी थे, जिसके कारण उन्हें अपनी दृष्टि मनुष्यनिर्मित सामाजिक घेरे में ही केंद्रित रखनी पड़ती थी।

प्रेमघन; सं० १६१२-१६८०

कानपुर के उपाध्याय बदरीनारायण उर्दू में अब्र नाम से कविता करते थे और हिंदी में प्रेमघन नाम से। आनंदकादंबिनी नाम की मासिक पत्रिका तथा नागरीनीरद साप्ताहिक पत्र आप ही ने निकाले थे। देश की परिस्थिति, देशभक्ति, हिंदी प्रचार आदि आपकी कविता के विषय थे। आपकी रचना का उदाहरण :—

पै भागनि सों जब भारत के सुख दिन आए।
अंग्रेजी अधिकारी अमित अन्याय नसाए॥
लह्यो न्याय सब ही छीने निज स्वत्वहिं पाई।
दुरभागिनि बचि रही यही अन्याय सताई॥
लह्यो देसभासा अधिकार सबै निज देसन।
राज काज आलय विद्यालय बीच ततच्छन॥
(हिंदी के कचहरियों में प्रवेश पाने के उपलक्ष में)

पंडित श्रीधर पाठक, सं० १६१६-१६८५

आपके प्राकृतिक वर्णनों में हिमालयवर्णन, काश्मीरवर्णन, घनविनय तथा भिन्न भिन्न ऋतुओं के वर्णन चटकीले हैं। बालविधवा आदि सामाजिक विषयों पर और भारतोत्थान, भारतप्रशंसा आदि देशभक्ति पर भी आपकी कविताएँ हृदयहारी हैं। आपकी गणना ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवियों में है। हिमालयवर्णन में आप लिखते हैं :—

अगनित पर्वत खंड चहूँ दिसि देत दिखाई।
सिर परसत आकास चरन पाताल छुआई॥

सोहत सुंदर स्वेत पाँति तेरे ऊपर छाई।
मानहुँ बिधि पट हरित स्वर्ग सोपान बिछाई॥

आपका काश्मीरवर्णन पढ़ने योग्य है :—

कै यह जादूभरी विश्व बाजीगर थैली।
खेलत में खुलि परी शैल के सिर पै फैली॥
पुरुष प्रकृति को किधौं जबै जोबनरस आयो।
प्रेमकेलि रसरेलि करन रँगमहल सजायो॥
खिली प्रकृति पटरानी के महलन फुलवारी।
खुली धराकै भरी तासु सिंगार पिटारी॥
प्रकृति यहाँ एकांत बैठी निजरूप सँवारति।
पलपल पलटति भेस छनिक छवि छिनछिन धारति॥
विमल अंबुसर मुकुरन महँ मुखबिंब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आपही तन मन वारति॥

पंडित सत्यनारायण कविरत्न, सं० १९४१-१९७५

ब्रजभाषा पर आपका जन्मसिद्ध अधिकार था। आप व्रजभूमि तथा कृष्ण के अनन्य उपासक थे। आपके उत्तररामचरित और मालतीमाधव के अनुवाद में मौलिक रचना का आनंद आता है। उदाहरण मालती-माधव से :—

सब ओर जितै जित देखत हौं दृग मोहिनी मूरति भाइ रही।
चहुँ बाहिर औ उर-अंतर में बहुरूप अनूप दिखाइ रही॥
खिले स्वर्न सरोज मनोहर को जिह आनन ओप लजाई रही।
अति नेह सों मो-दिसि लाज-पगी निज पीठि कछू तिरछाइ रही॥

जगन्नाथदास रत्नाकर; सं० १६२३–१६८६

आप व्रजभाषा के अनन्य भक्त थे। सरस्वती पत्रिका के प्रकाशित होने पर जो प्रबल आंदोलन खड़ी बोली के पक्ष में चला, उसका आप पर कुछ प्रभाव न पड़ा। आपने हरिश्चन्द्र के काल से कविता करना प्रारंभ किया और आमरण व्रजभाषा की प्राचीन परिपाटी को निबाहा। आपकी कृतियों में हरिश्चंद्र, गंगालहरी, उद्धवशतक और गंगावतरण मुख्य हैं। उद्धवशतक भाव-प्रधान ग्रंथ है और गंगावतरण कथात्मक। कृष्ण और गोपियों के प्रेम जैसे पिष्टपेषित विषय में भी आपकी प्रतिभा ने नवीन रमणीयता ला दी है। अपने गंगावतरण में आपने शृंगार, वीर, हास्य, भयानक; सभी प्रकार के रसों के संचार की सामग्री संपुटित की है। अपनी कुशाग्र-कल्पना के बल पर आपने अपनी पदावली में अनुपम लाक्षणिकता लाने का प्रयत्न किया है। आपकी ओजपूर्ण रचना का उदाहरण:—

वीर अभिमन्यू की लपालप कृपान वक्र,
सक्र-असनी लौं चक्रव्यूह माहिं चमकी।
कहैं रतनाकर न ढालनि पै खालनि पै,
झिलिम झगालनि पै क्यों हूँ कहूँ ठमकी॥
आई कंध पै तो बाँटि बंध प्रतिबंध सबै,
काटि कटि-संधि लौं जनेवा ताकि तमकी।
सीस पै परि तौ कुंड काटि मुंड काटि फेरि,
रुंड के दुखंड कै धरा पै आनि धमकी॥

ऊपर के संदर्भ में रत्नाकर जी ने भाषा में मुहावरों की अच्छी योजना की है। गंगावतरण का उदाहरण:—

छहराती छवि कयहुँ कोउ सित सघन घटा पर।
फहराति फैलि जिमि जोन्हछटा हिम-प्रचुर-पटा पर॥

तिहिं घन पर लहराति लुरति चपला जव चमकै ।
जल-प्रतिबिंबित दीप-दाम-दीपित-सी दमकै ॥

भावव्यंजन और भाषापरिष्कार दोनों की दृष्टि से रत्नाकरजी का स्थान हिंदी साहित्य में ऊंचा है। आपकी तीव्र तथा सूक्ष्म अनुभूति जीवन के गहन तथा विचित्र भावों तक पहुँचती है, और उनका मुहावरेदार साहित्यिक भाषा में अभिव्यंजन करती है। गंगावतरण में आपने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय का अनूठा सामंजस्य स्थापित किया है।

दूसरा उदाहरण:—

कबहुँ सुधार अपार वेग नीचे को धावै ।
हरहराति लहराति सहस योजन चलि आवै ॥
मनु विधि चतुर किसान पौन निज मन को पावत ।
पुन्य खेत उत्पन्न हीर की रास उसावत ॥

राय देवीप्रसाद पूर्ण; १८६५-१९१०

कानपुर निवासी पूर्ण जी की रचनाओं में प्राचीन परिपाटी के शृंगारिक वर्णनों के साथ साथ देशभक्ति के भावों की अभिव्यंजना भी प्रचुर मात्रा में मिलती है। आपका ऋतुवर्णन रुचिर है। आपकी व्रजभाषा विशुद्ध तथा सुसंयत होती थी। आपने धाराधरधावन नाम से मेघदूत का सुन्दर अनुवाद किया है। उदाहरण:—

परसि सलिल तेरो सीतल है पौन जौन,
ताके मंद झूकन जगैयो प्रानप्यारी को ॥
मुकुलित मालती समूहन के साथ साथ,
प्रफुलित कीजियो पयोद ! सुकुमारी को ॥
ह्वै कर चकित जवै ताकै सो झरोखे ओर,
दामिनी वलित वेस वानिक तिहारी को ॥

लागियो सुनावन सरस सोरवारे बैन,
नीरद सुहावन ! वा मान जोग नारी को ॥

वियोगी हरि; सं० १९५३

आप भक्त हैं, दार्शनिक हैं और वीररस की कविता करने वाले हैं। आप पक्के समाजसुधारवादी हैं और आज कल दिल्ली से प्रकाशित होने वाले हरिजनसेवक का संपादन करते हैं। आपकी रची वीरसतसई का हिंदी साहित्य में उच्च स्थान है। इस पुस्तक पर साहित्यसंमेलन से आपको १२००) का पुरस्कार मिला था। उदाहरण :—

करकी क्यों आपहिं चुरीं, कहति हरम अकुलाय।
सुन्यो नाहिं आवत सिवा, समर निसान वजाय ॥
माथ रहौ वा ना रहौ, तजैं न सत्य अकाल।
कहत कहत ही चुनि गए, धनि गुरु गोविंद लाल ॥
निज प्रिय लाल कटाय जो, प्रभु सिसु लियो वचाय।
क्यों न होय मेवाड़ में, पूजित पन्ना धाय ॥

पंडित रामचंद्र शुक्ल; सं० १९४१

सुप्रसिद्ध गद्यलेखक तथा समालोचक पंडित रामचंद्र शुक्ल ने एडविन आर्नल्ड की 'लाइट आफ एशिया' के आधार पर व्रजभाषा में बुद्धचरित्र नाम का एक प्रबंधकाव्य लिखा है। आप बड़े भावुक तथा सहृदय कवि हैं। आपके हृदय की करुणार्द्र वृत्तियाँ मनुष्यों तक ही परिसीमित न रहकर प्राकृतिक जगत् में भी अपना सामंजस्य स्थापित करती हैं। यही कारण है कि आपकी रचनाओं में प्रकृति के सवाक् चित्र उतरे हैं। आपकी रचना का उदाहरण :—

देखि परैं साँवरे सलोने, कहुँ गोरे मुख,
भृकुटी विशाल वंक, वरुनी बिछी है श्याम ॥

अधखुले अधर दिखात दंतकोर कछु,
चुनि धरे मोती मानौ रचिवे के हेत दाम ॥
कोमल कलाई गोल, छोटे पायँ पैजनी है,
देति झनकार जहाँ हिलै कहूँ कोउ वाम।
स्वप्न टूट जात वाको जामैं सो रही है पाय,
कुँवर रिझाय उपहार कछु अभिराम ॥

अब तक व्रजभाषा के विशेष विशेष कवियों का वर्णन हुआ। इनके अतिरिक्त पं० नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, लाला भगवानदास, पंडित रूपनारायण पांडेय ने भी व्रज में चोखी कविता की है, परंतु पीछे चलकर इन्होंने व्रजभाषा को छोड़ खड़ी बोली में कविता करना आरंभ कर दिया; अतः इनका वर्णन उसी प्रसंग में किया जायगा।

अध्याय १४

आधुनिक युग

खड़ी बोली—पद्य

अब तक व्रजभाषा ही कविता का माध्यम थी और उसके लिए कवित्त सवैया आदि छंदों का ही अधिक प्रयोग होता था। किंतु भारतेंदु के पश्चात् भाषा के माध्यम में परिवर्तन किया गया। व्रजभाषा के स्थान में खड़ी बोली का प्रयोग किया जाने लगा। भारतेंदु के काल में खड़ी बोली गद्य में परिनिष्ठित हो चुकी थी, किंतु पद्य के लिए उसमें व्रजभाषा वाली क्षमता तथा सुंदरता न आ पाई थी। फिर भी, बोलचाल में और गद्य में एक भाषा का प्रयोग करना, और पद्य के लिए दूसरी भाषा पर आधिपत्य प्राप्त करना न तो युक्तिसंगत था और न ही जनसाधारण के लिये सहज। फलतः खड़ी बोली की कविता करने में आने वाली कठिनाइयों के रहते हुए भी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि ने व्रजभाषा का परित्याग कर पद्य के लिए भी खड़ी बोली अपनाई, और उसमें संस्कृत के अनुगामी छंद चलाने के साथ साथ उसे व्याकरण के नियमों में बाँधकर परिष्कृत भी किया।

श्रीधर पाठक; जन्म संवत् १६१६

महावीरप्रसाद द्विवेदी; जन्म संवत् १६२१

स्वर्गीय पंडित श्रीधर पाठक और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी खड़ी बोली की कविता के प्रथम लेखक और आचार्य हुए। पाठक जी ने गोल्ड-



स्मिथ की कविता पुस्तकों का ऊजड़ गाँव, एकांतवासी योगी और श्रांत पथिक नाम से अनुवाद किया और कतिपय मौलिक कविताएँ भी रचीं। द्विवेदी जी ने मराठी साहित्य की प्रगति से परिचित होकर हिंदी की सर्व-श्रेष्ठ मासिक पत्रिका सरस्वती में छोटी छोटी रचनाएँ कीं और नवागंतुक कवियों को प्रोत्साहन दिया। यदि पाठक जी में द्विवेदीजी की अपेक्षा कवित्व ऊँचा है तो द्विवेदी जी में उनकी अपेक्षा भाषामार्जन अधिक। उस समय खड़ी बोली का जो अनिश्चित रूप था, उसे निश्चित और परिमार्जित कर काव्योपयुक्त बनाने का श्रेय द्विवेदी जी ही को है। आगे चलकर द्विवेदी जी ने कुमारसंभव आदि ग्रंथों के अनुवाद किये, जो अपने ढंग के अनुपम हुए।

पाठक जी की रचना का उदाहरण—

उसी भाँति संसारिक मैत्री केवल एक कहानी है,
नाममात्र से अधिक आज तक नहीं किसी ने जानी है।
जब तक धन, संपदा, प्रतिष्ठा अथवा यश-विख्याति,
तब तक सभी मित्र, शुभचिंतक, निज कुल बांधव जाति॥

द्विवेदी जी की रचना का उदाहरण :—

मूल्यवान मंजुल शय्या पर पहले निशा बिताता था,
सुयश और मंगल गीतों से प्रात जगाया जाता था।
वही, आज तू, कुश काशों से युक्त भूमि पर सोता है,
श्रुतिकर्कश शृगाल शब्दों से हा हा निद्रा खोता है॥

पंडित नाथूराम शंकर; १९१६-१९८८

आर्यसमाज के अनुयायी पं० नाथूराम शंकर ब्रज और खड़ी बोली दोनों ही के प्रतिभाशाली कवि थे। शब्दों पर आपका अधिकार था और कविता आपकी कभी कभी उपदेशात्मक होने पर भी साधारण उत्कृष्ट होती थी।

उदाहरण :—

आँख से न आँख लड़ जाय इसी कारण से,
भिन्नता की भीत करतार ने लगाई है।
नाक में निवास करने को कुटी शंकर की,
छवि ने छपाकर की छाती पै छगाई है॥
कौन मान लेगा कीर तुंड की कठोरता में,
कोमलता तिल के प्रसून की समाई है।
सैकड़ों नकीले कवि खोज खोज हारे पर,
ऐसी नासिका सी और उपमा न पाई है॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय; जन्म सं० १६२२

आपने व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में कविता की है। व्रजभाषा की कविता में आप रीतिकाल के कवि के रूप में आते हैं; और आपका रसकलस रीति-ग्रंथों के अनुकरण में लिखा गया है। इसके अतिरिक्त आपने व्रजभाषा में और भी अनेक कविताएँ की हैं।

किंतु आपका उत्कृष्ट ग्रंथ प्रियप्रवास खड़ी बोली में है, जिसमें करुण विप्रलंभ और करुण वात्सल्य की प्रधानता है। यह संस्कृत वर्णवृत्तों में लिखा गया है और कहीं कहीं निरी संस्कृत होने के कारण दुरूह हो गया है। इस वर्णनात्मक काव्य में श्रीकृष्ण की बाललीला तथा व्रजरक्षण के वर्णन अच्छे हैं। विरहवर्णन भी चुभता हुआ है। उपाध्याय जी के रचे चोखे चौपदे तथा पद्यप्रसून में बोलचाल की सरल भाषा उपयुक्त हुई है और पहले में मुहावरों की खासी खपत है। इस प्रकार संस्कृतगर्भित दुरूह और सरल दोनों प्रकार की खड़ी बोली का उपाध्याय जी ने सफलतापूर्वक प्रयोग किया है।

उदाहरण :—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरुशिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ॥

× × ×

धीरे धीरे दिन गत हुआ, पद्मिनीनाथ डूबे।
आई दोषा, फिर गत हुई, दूसरा वार आया ॥
यों ही बीतीं विपुल घटिका औ कई वार बीते।
आया कोई न मधुपुर से औ न गोपाल आये ॥

× × ×

हैं जनम लेते जगह में एक ही,
एक ही पौदा उन्हें है पालता।
रात में उन पर चमकता चाँद भी,
एक ही सी चाँदनी है डालता ॥
मेंह उन पर है बरसता एक सा,
एक सी उन पर हवाएँ हैं वहीं।
पर सदा ही यह दिखाता है हमें,
ढंग उनके एक से होते नहीं ॥ इत्यादि

निम्न पद्य में वक्रगति से लपकते हुए कौंधे का वर्णन सुंदर हुआ है :—

नव प्रभा परमोज्ज्वल लीक सी।
गतिमती कुटिला फणिनीसमा ॥
दमकती दुरती धन अंक में।
विपुल केलि कला खनि दामिनी ॥

रात्रि के समय वायु के मंद होने के विषय में यह कल्पना कितनी सुन्दर है:—

परम धीर समीर प्रवाह था।
वह मनो कुछ निद्रित था हुआ॥

बा० मैथिलीशरण गुप्त; जन्म सं० १६४३

बाबू मैथिलीशरण गुप्त खड़ी बोली के सबसे प्रसिद्ध और प्रतिनिधि-कवि हैं। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव में रहकर उन्होंने अपनी भाषा का बड़ा ही सुंदर और परिष्कृत रूप संपन्न किया है। आपकी सर्व-प्रथम रचना भारतभारती ने काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट न रहने पर भी आपके यश को उत्तरापथ में यथेष्ट फैलाया। कवित्व की दृष्टि से आपका खंडकाव्य जयद्रथवध अच्छा है। इसमें वीररस के परिपाक के साथ साथ करुण रस भी कमनीय बन पड़ा है। आधुनिक रचनाओं में आपकी पंचवटी अनूठी है। उसमें लक्ष्मण का चरित्र अत्यंत सजीव है और सारी पुस्तक चुटीली भाषा में निष्पन्न हुई है। आपने हाल में साकेत, यशोधरा और द्वापर नाम के काव्य भी प्रकाशित किये हैं, जिनमें पहला महाकाव्य है, और कतिपय स्थलों के नीरस होने पर भी कवि की रसार्द्र प्रतिभा का परिचय देता है। यशोधरा में करुण रस का परिपाक अच्छा है; यद्यपि इसमें से कतिपय स्थल निकाल देने पर भी मौलिक रचना को हानि नहीं पहुँचती। द्वापर में गुप्त जी ने नया मार्ग उद्भावित करके कृष्णकथा से संबद्ध पात्रों के मुँह से अपनी अपनी जीवनी कहलाई है। आपकी रची छायावादसंबंधी कविताओं का स्वयं उस परिपाटी के कवियों में यथेष्ट आदर है, जो आपकी व्यापक प्रतिभा और प्रत्युत्पन्नमति का परिचय देते हुए आपको वर्तमान युग का प्रतिनिधि-कवि सिद्ध करता है।

आपने बंगला के ख्यातनामा कवि माइकेल मधुसूदनदत्त के मेघनादवध, वीरांगना, विरहिणी व्रजांगना तथा नवीनचंद्रसेन के पलासीर युद्ध का सुन्दर अनुवाद किया है।

आपकी रचना का उदाहरण:—

फिर नृत्य सा करता हुआ धन्वा लिये निज हाथ में।
लड़ने लगा निर्भय वहाँ वह शूरता के साथ में॥
होता प्रविष्ट मृगेंद्रशावक ज्यों गजेंद्रसमूह में।
करने लगा वह शौर्य त्यों उन वैरियों के व्यूह में॥
तब छोड़ते कोदंड से सब ओर चंड शरावली॥
मार्तंडमंडल के उदय की छवि मिली उसको भली॥
यों विकट विक्रम देख उसका धैर्य रिपु खोने लगे।
उसके भयंकर वेग से अस्थिर सभी होने लगे॥

(जयद्रथवध से)

× × × ×

डाली भर कर फूल आज क्यों तोड़े हैं इतने सजनी ?
कभी पहनती है तारों की माला मेघावृत रजनी।
हाय करेंगी क्या अब लेकर सुमनरत्न व्रजबालाएँ ?
अब क्या फिर वे पहन करेंगी फूलों की मृदुमालाएँ ?
मलयाचल गृह सुना तुम्हारा, जहाँ विरहिणी गाती हैं।
यथा अप्सरा नंदन वन में श्रवणसुधा बरसाती हैं॥ इत्यादि

× × × ×

आ शत्रुघ्न समीप रुकी लक्ष्मण की रानी।
प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी॥
जटाजाल से बाल विलंबित छूट पड़े थे।
आनन पर सौ अरुण घटा में फूट पड़े थे॥
माथे का सिंदूर सजग अंगार सदृश था।

प्रथमातप सा पुण्य गात्र यद्यपि वह कृश था ॥
बायाँ कर शत्रुघ्न पृष्ठ पर कंठनिकट था ।
दाएँ कर में स्थूल किरण सा शूल विकट था ॥

(साकेत से)

गुप्त जी की आलंकारिक सूक्ति के उदाहरणः—

जान पड़ता है नेत्र देख बड़े बड़े ।
हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े ॥

× × ×

किसने मेरी स्मृति को
बना दिया है निशीथ में मतवाला ?
नीलम के प्याले में
बुद्बुद देकर उफन रही वह हाला ॥

× × ×

उल्काएँ सब ओर प्रभा सी पाट रही थीं ।
पी पी कर पुरतिमिर जीभ सी चाट रही थीं ॥

पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही; जन्म संवत् १६४०

उन्नाव जिले के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण पंडित गयाप्रसाद हिंदी-कविता क्षेत्र में आने से पूर्व उर्दू में त्रिशूल नाम से रचना करते रहे हैं। इसी कारण आपकी भाषा मँज चुकी है और उसमें मुहावरों की उठ-बैठ अच्छी रहती है। आपकी कविता का मुख्य विषय प्रेम है।

उदाहरण:—

आँखों आँखों में न मुसकाते कभी आते जाते,
छुटते ही लोचनों में जल भरते नहीं ।
बनना न होता यदि उनको हृदयहार,
हँसते ही हँसते हृदय हरते नहीं ।
सच्ची जो लगन नहीं मिलन असंभव तो,
आशावान प्रेमी हैं निराश मरते नहीं ।
अंगीकार करना न उनको सनेही होता,,
नहीं कर देते 'नहीं नहीं' करते नहीं ॥

कभी कभी आपका यह प्रेम देशभक्ति के रूप में परिणत हो हमारे संमुख आता है; तब आप जीवन-समर में अग्रसर होने वाले योद्धा को आत्मनिर्भरता तथा ईश्वरविश्वास का उपदेश देते दृष्टिगत होते हैं:—

जीवन-समर में अमर वर दें अमर,
जीत ले विरोधियों को विश्व के विजेता ! जा ।
लाख भय भ्रांति हो अशांति का न लेना नाम,
परम प्रशांतचित्त होके शांतिचेता ! जा ।
वायु प्रतिकूल है, हुआ करे, न चिंता कर,
नाव नीति की तू निज बल पर खेता जा ।
साथी वही जिसने कि हाथी के लगाया हाथ,
एक बस साहस सनेही साथ लेता जा ॥

नीचे लिखे पद्य में आत्मसमर्पण की अच्छी छटा है:—

तुम होगे सुकरात, जहर के प्याले होंगे ।
हाथों में हथकड़ी पदों में छाले होंगे ॥
ईसा से तुम, और जानके लाले होंगे ।
होगे तुम निश्चेष्ट, डस रहे काले होंगे ॥ इत्यादि

आजकल आप कानपुर से प्रकाशित होने वाले 'सुकवि' पत्र का संपादन करते हैं।

लाला भगवानदीन; सं० १६२३—१६८७

हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी अध्यापक के पद पर प्रतिष्ठित लाला भगवानदीन जी ने वीर क्षत्राणी, वीर बालक, वीर माता, वीर-पत्नी कीः प्रताप आदि पुस्तकें रचकर हिंदी साहित्य में वीररस का संचार किया है। इन सब का संग्रह वीर पंचरत्न के रूप में हुआ है। आपकी कविता साधारण जनता में घर कर गई है। उदाहरण:—

यह दुर्दशा देश की लखके नीला मन में हुई अधीर।
क्रोध सहित पति को ललकारा 'नाहक बनता है तू वीर'॥
क्षत्री रक्त नसों में तेरे तनिक नहीं खाता है जोश।
सुनता नहीं यवन क्या करते, कहाँ गया है तेरा होश?
वीर कुमारी, वीर वधूटी और वीर जननी की लाज।
जन्मभूमि, कुल की मर्यादा रखना है क्षत्री का काज॥
रजपूतों की कन्या नारी यवन लोग लेते हैं छीन।
इसे देख लज्जा से तेरा मुखड़ा होता नहीं मलीन॥

आपकी स्फुट कविताओं का संग्रह नवीनबीन नामक पुस्तक में हुआ है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी

पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने हिन्दी में मिलन, पथिक तथा स्वप्न नामक तीन खंडकाव्यों के अतिरिक्त प्रचुर स्फुट रचना भी की है। राष्ट्रीयता के भाव आपकी कविताओं में भरे पड़े हैं। विधवा का दर्पण, अन्वेषण आदि कविताएँ अत्यंत सुन्दर संपन्न हुई हैं।

कविताकौमुदी के दो भागों में आपने प्राचीन तथा नवीन कवियों की मुख्य कविताओं का संग्रह भी प्रकाशित किया है। आपकी ग्रामगीत नामक कृति भी आपके दृढ़ अध्यवसाय तथा उद्योग का परिचय देती है।

उदाहरण:—

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग विरंग निराला।
रवि के संमुख थिरक रही है नभ में वारिद माला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ यही चाहता मन है॥

निम्नस्थ पद्य की रूपकयोजना में सुन्दर कल्पना है:—

रात दिवस की बूँदों द्वारा
तन-घट से परिमित यौवन जल।
है निकला जा रहा निरंतर,
यह रुक सकता नहीं एक पल॥

असहयोग के युग में आगरा जेल में रहते हुए आपने निम्नलिखित गीत बनाया था:—

मैं ढूँढता तुझे था जब कुंज और वन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में॥
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में॥
मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में॥
बनकर किसी का आँसू मेरे लिये बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में॥

पं० रूपनारायण पांडेय, जन्म सं० १९४१

लखनऊ के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण पंडित रूपनारायण पांडेय देशभक्ति, अछूतोद्धार, स्वदेशी वस्तु-व्यवहार आदि विषयों पर लोक-प्रचलित भाषा में सुंदर कविता करते हैं। अपनी भक्तिविषयक कविताओं में भी आपने देश के अभ्युदय को ही अपना लक्ष्य बनाया है।

उदाहरण :—

बाधाएँ हों लाख, मगर हम नहीं हटेंगे,
उमंग और उत्साह हमारे नहीं घटेंगे।
कष्ट कठिन हों कृष्णकृपा से सभी कटेंगे,
अजी, कभी तो मोह द्रोह के हृदय फटेंगे।
हम सब होंगे कर्तव्यरत, भव्य युग में कभी,
ये दोष न होंगे उस समय,जो कुछ हम में हैं अभी।

पं० लोचनप्रसाद पांडेय, जन्म सं० १९४२

मध्यप्रांत के ख्यातनामा कवि पांडेय जी की रचना सरल भाषा में प्रसाद गुण वाली होती है। ऋतुवर्णन आदि पर आप अच्छा लिखते हैं। आप मध्यप्रांत-हिंदी-साहित्य-संमेलन के सभापति रह चुके हैं। आप की रचना का उदाहरण :—

कतहुँ भेड़ को झुंड मुंड नीचे करि धावत।
एक चरत, सब चरत, एक लखि सबहिं परावत॥
कहुँ बैठे स्वच्छंद ग्वाल मेंडन के ऊपर।
मुरली मधुर बजाय सुधा सींचत हृद्भू पर॥
कतहुँ फावरे धरे कृषक कोउ मेंड बनावत।
कहुँ श्रम सो अति थके कृषक निज चिलम चढ़ावत॥

कोउ विशेष जल देखि खेत खनि नीर निकारत।
कीच सने तनु कतहुँ नीर सों कृषक पखारत॥

यह उदाहरण आपकी व्रजकविता का है। खड़ी बोली में आप संस्कृत शब्दों का विशेष रूप से आश्रय लेते हैं :—

ग्रामों के प्रांत में हैं तरुतल करते ढोर बैठे जुगाली।
बैठे हां ग्वालबाल ध्वनि मुदित करें बांसुरी की निराली॥
भूखा प्यासा अकेला पथिक तपन के ताप से क्लांत होके।
छाया में वृक्ष की है गमन कर अहो बैठता श्रांत होके॥

बा० सियारामशरण गुप्त, जन्म सं० १९५२

चिरगांव, झांसी के निवासी, कवि मैथिलीशरण के भ्राता सियाराम-शरण अपने भाई की रचनाओं को देख कविताक्षेत्र में उतरे और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रोत्साहित हो उसमें सफल हुए। आर्द्रा, दूर्वादल, और विषाद में आपकी स्फुट कविता संगृहीत है। आपने मौर्यविजय और अनाथ नाम के दो छोटे काव्य भी रचे हैं।

सामाजिक कुरीतियों के विषय में आपने व्यंग्यमयी और करुणरसपूर्ण कविता की है।

आपकी रचना के उदाहरण :—

बैरी हुआ विश्व भर मेरा,
हाय कहाँ अब जाऊँ मैं?
मुझ तक ही मेरी सीमा है,
हाथ कहाँ फैलाऊं मैं? ॥

आपकी रचना में छायावाद का आभास रहता है।

उदाहरणः—

कहाँ पाऊँ अवलंबन हाय ?
रिक्त है यह पूजा का थाल,
हृदय में है भीषण भूचाल।
सूखकर मेरा सुमनोद्यान,
रो रहा है निर्जन सुनसान।
जहाँ जैसे भी थे जो फूल,
हो गये आज चिता की धूल।
हुई यह तंत्री भी बेकार,
अचानक टूट गये सब तार ।
कहाँ जाता है तू रे दीन,
लौट आओ सब साधनहीन ॥

श्री अनूपशर्मा

खड़ी बोली में सुघर वीर कविता करने वाले श्री अनूप आजकल के भूषण हैं। आपकी कुछ कृतियां प्राचीन वीरों की प्रशस्तियों के रूप में हैं और कुछ स्वतंत्र उद्बोधन के रूप में। वीररस के अतिरिक्त सामाजिक विषयों पर भी आपकी रचना चलती होती है।

उदाहरण :—

होता नीच नृत्य महा दारुण दरिद्रता का,
भूख से प्रजा में एक तड़प समाई है।
परम प्रचंड पारतंत्र्य के पयोनिधि की,
कहर मचाती हुई लहर सिधाई है ॥

भौर में पड़ा हुआ समाज का जहाज आज,
डूबा जो नहीं तो डूबने की घड़ी आई है।
तोष गया रोष गया जोश औ खरोश गया,
होश क्यों गया तुम्हें कहाँ की नींद आई है॥

गोपालशरणसिंह, जन्म सं० १६४८

ठाकुर गोपालशरणसिंह ने सुबोध खड़ी बोली में गंभीर तथा ऊंचे भावों का समावेश करते हुए, उसमें कवित्त सवैये लिखकर उसे प्राचीन काव्य-पद्धति में ढालने का सफल प्रयत्न किया है। माधवी नामक पुस्तक में आपकी सरस रचनाओं का संग्रह है।

आपकी रचना का एक उदाहरण :—

शरद-जुन्हाई सी है गात की गोराइ चारु,
आनन अनूप मानो फुल्ल जलजात हैं।
किस भाँति कोई कभी यह बतलावे भला,
कब दिन होता और होती कब रात है?
उसमें मिली है प्रभा शशि और सूर्य की भी,
क्यों नहीं स्वयं ही सिद्ध होती यह बात है?
किसने न देखी वह रूपराशि बार बार,
तो भी अनदेखी वह होती सदा ज्ञात है॥

पं० रामचरित उपाध्याय; जन्म सं० १६२६

गाज़ीपुरनिवासी सरयूपारीण ब्राह्मण पंडित रामचरित उपाध्याय संस्कृत के पंडित हैं। आपकी खड़ी बोली की स्फुट कविताएँ रोचक तथा सुंदर होती हैं। आपका रामचरितचिंतामणि नामक प्रबंधकाव्य भिन्न भिन्न

छंदों में लिखा गया है। यह ग्रंथ अपने ढंग का अनूठा है और इसकी भाषा स्वच्छता तथा सौष्ठव के लिए आदर्श है।

माखनलाल चतुर्वेदी; जन्म सं० १९४५

चतुर्वेदी जी का जन्म संवत् १९४५ में मध्यप्रांत के होशंगाबाद जिले के बाबई नामक गाँव में हुआ। बड़े होकर आपने माधवराव सप्रे के साथ देशसेवा तथा साहित्य-सेवा करते हुए कर्मवीर पत्र निकाला; उसी के साथ आपकी वास्तविक प्रतिभा और ओजपूर्ण लेखनशैली का विकास हुआ।

बलिदान, उन्मूलित वृक्ष, सिपाही, मरण, त्यौहार आपकी उत्कृष्ट राष्ट्रीय रचनाएँ हैं। इसी श्रेणी की 'पुष्प की अभिलाषा' नामक रचना अत्यंत सुन्दर बन पड़ी है:—

चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमीमाला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली! उस पथ में देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक॥

वेदना, तरुणकलिका, जीवन फूल, बलिदान का मूल्य, कैदी और कोकिला तथा 'नव स्वागत' में भी वेदना और राष्ट्रीयता के भावों की रुचिर अभिव्यक्ति हुई है। 'हरियाली घड़ियाँ' आपकी उत्कृष्ट रचना है:—

कौनसी हैं मस्त घड़ियाँ चाह की?
हृदय की पगडंडियों की राह की।
दाह की ऐसी कनक कुन्दन बने,
मौन की मनुहार की है—आह की।

भिन्नता की भीत सहसा फाँदकर,
नैन प्रायः जूझते लेखे गए।
बिन सुने हँसते, चले चलते हुए,
बिन बुलाए बूझते देखे गए॥

आपकी आध्यात्मिक कविताओं में परमात्मा की सवरूपता पर अच्छे संकेत हैं:—

अजब रूप धरकर आए हो, छवि कह दूँ या नाम कहूँ;
रमण कहूँ या रमणी कह दूँ, रमा कहूँ या राम कहूँ।

अध्याय १५

आधुनिक युग

खड़ी बोली—छायावादी कवि

अब तक हमने उन कवियों का वर्णन किया, जिन्होंने स्वतंत्रता तथा सर्वांङ्गीण विकास के आधुनिक युग में हिंदी काव्यधारा को ब्रज के सुरम्य किंतु संकुचित क्षेत्र से निकालकर उसे जनसाधारण की खड़ी बोली के प्रांत में प्रवाहित किया और प्रेम, श्रृंगार, समाजसुधार, अछूतोद्धार, देशसेवा आदि विषयों पर संस्कृत तथा हिंदी के छंदों का आधार लेकर प्रचुर मात्रा में रचनाएँ कीं। इस श्रेणी के कवियों तक हिंदी काव्यधारा, छोटे मोटे परिवर्तनों के होते हुए भी, अपने परंपरागत भारतीय क्षेत्र में ही प्रवाहित हुई है और उसके आकार-प्रकार में विदेशीयता का संमिश्रण नहीं हुआ।

किंतु इन कवियों के पश्चात् आने वाले हाल के युग में रची जाने वाली हिंदी कविता में हम विशेष प्रकार का मौलिक अंतर पाते हैं। जहाँ प्रथम कोटि की कविता का लक्ष्य चराचर जगत् का वर्णन करते हुए परमात्मा की भक्ति करना तथा स्वांतःसुख लाभ करना था, वहाँ इस काल की कविता ने सीमित जगत् को विस्मृत कर अनंत तथा असीम को अपनी लीला का क्षेत्र बनाया। पहली कविता में दुखानुभूति के साथ २ सुखोल्लास के लिए भी अवकाश था; अब के कवि सुख की घड़ियों को न गिन, दिन रात दुख की कथा में अश्रु बहाते दृष्टिगत होते हैं। पूर्ववर्ती कविता छंदों की संकुचित परिधि को पार करने की उत्कट अभिलाषा को रखते हुए भी संस्कृत के छंदों में तथा कवित सवैयों में संपन्न होती आ रही थी;

हाल की कविता परंपरागत छंदों तथा अलंकार आदि का प्रत्याख्यान करके गद्य की उर्वरा भूमि में पल्लवित होती प्रत्यक्ष हो रही है। इस प्रकार भावपक्ष और कलापक्ष दोनों की दृष्टि से छायावादी कविता पूर्ववर्ती कविता से भिन्न प्रकार की ठहरती है।

व्यक्त में अव्यक्त और प्रस्तुत में अप्रस्तुत की झाँकी देकर प्रस्तुत के तुच्छातितुच्छ रूप में अप्रस्तुत अनंत का आलोक प्रसारित करने वाला रहस्यवाद कविता का सर्वस्व और उसका सर्वश्रेष्ठ आभूषण है। इसी एक तत्व के संपुटित होने पर कविता देश और काल की परिधि को पार करती है और इसी एक तत्व की अभिव्यक्ति से उसमें विश्वजनीनता सम्पन्न होती है। किंतु ये सब सिद्धियाँ उसी छायावाद अथवा रहस्यवाद में होती हैं जो सच्ची आत्मानुभूति हो, जिसमें कवि स्वयं प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आभास पाता हो, जिसमें वह स्वयं सीमित में असीमित की लीलाओं को आत्मगत करता हो। दूसरों से उधार लिये हुए छायावाद में आत्मा की पूर्ण विवृति और उसका फूट-फूटकर कविता के रूप में प्रवाहित होना असंभव है।

हिंदी के वर्तमान हिंदी कवियों ने रहस्यवाद का यह उपनेत्र रवींद्र की बंगला कृतियों से प्राप्त किया है। इसीलिए हमें उनके असीम-पर्यवेक्षण में वह गहनता तथा सत्यता नहीं दृष्टिगत होती, जो रवींद्र की रचनाओं में चारों ओर फूटी पड़ रही है और यही एक बात हिंदी की छायावादी कविता के लिए आशंका की बात है।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि हिंदी के रहस्यवादी कवियों में जिनकी गणना होती है, वे सब के सब रहस्यवादी नहीं हैं। इनमें से कुछ ने तो रहस्यवाद की तो क्या, सामान्य कविता की भी एक पंक्ति नहीं लिखी। हाँ, अङ्गरेजी की लीरिक कविता की नकल में उलटे सीधे पैर अवश्य मारे हैं।

जयशंकरप्रसाद जैसे रसार्द्र हृदय कवियों की रचनाओं में जहाँ तहाँ

रहस्यवाद का आभास अवश्य मिल जाता है; और इस अध्याय में हम इसी श्रेणी के कवियों का वर्णन करेंगे।

जयशंकरप्रसाद, १९४६—१९९५

छायावाद के उत्कृष्ट कवि प्रसाद का जन्म सम्वत् १९४६ में काशी के प्रसिद्ध घराने में हुआ। बारह वर्ष की अवस्था में ही आपसे पिता की छत्रच्छाया छिन गई; और आपने विश्वविद्यालय में यथाविधि शिक्षा न पा घर पर ही संस्कृत, फ़ारसी, उर्दू और अंग्रेजी का अच्छा अभ्यास किया। बचपन से ही आप भावप्रवण थे। आपकी रचनाओं में कानन-कुसुम, प्रेमपथिक, महाराणा का महत्त्व, सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य, छाया, उर्वशी, राज्यश्री, करुणालय, प्रायश्चित, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कंदगुप्त, तितली, इंद्रजाल, आकाशदीप और लहर प्रसिद्ध हैं। आपका कामायनी नामक काव्य महत्वपूर्ण है।

पुस्तकों की सूची से ही आपके व्यापक पांडित्य और निसर्गसिद्ध कवित्व का भान हो जाता है। आमूलचूल प्रेम में पगे रहने पर भी आप अपनी निभृत वेदना को अश्लील नहीं होने देते और सदा लौकिक सौंदर्य के चित्रपट में अलौकिक सौंदर्य की लीला देखते हैं। वृत्ति आपकी सदा उस अव्यक्त की ओर रहती है, जो नाम रूपों के द्वारा इस संसार में व्यक्त होता है और मूर्त न होने पर भी उषा आदि के नानावर्ण मुकुर में प्रतिबिंबित हुआ भासमान होता है —

प्राची के अरुण मुकुर में
सुन्दर प्रतिबिंब तुम्हारा।
उस अलस उषा में देखूँ,
अपनी आँखों का तारा॥

अव्यक्त की लाली का साक्षात्कार होते ही—

मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए,
यह अलस जीवन सफल अब हो गया।
कौन कहता है जगत है दुःखमय,
यह सरस संसार सुख का सिंधु है॥

—प्रसाद का नीरस संसार सरस बन जाता है और उनकी ऊजड़ "दबड़ी" उपवन में परिणित हो जाती है। किंतु थोड़ी देर बाद ही "लाल की लाली" छलिया के रूप में आपके सामने आती है और नयनों में बसी हुई भी उसकी रूपरेखा, चाहने पर भी, आपके हाथ नहीं लगती:—

भरा नैनों में मन में रूप,
किसी छलिया का अमल अनूप।
जल, थल, मारुत, व्योम में जो छाया है सब ओर,
खोज खोज कर खो गई मैं पागल-प्रेम-विभोर॥

कभी २ सौंदर्य का यह तत्व आपके सामने प्रचंड रूप धारण करके आता है; तब आपकी मधुर वेदना विधुर चिंता में परिणित हो जाती है—

ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्ववन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथमकंप सी मतवाली॥
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा।
हरी-भरी सी दौड़-धूप, ओ,
जलमाया की चल रेखा।

एक मौन वेदना विजन की झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक, साकार नहीं।

संसार का प्रत्येक अणु इसी चिंता के पट को बुनने में लगा हुआ है; जीवन का प्रत्येक इङ्गित इसी सुरधनु के चित्रण में संलग्न है:—

इस आकाशपटी पर जितने चित्र बिगड़ते बनते हैं,
उनमें कितने रंगभरे, जो सुरधनु पट से छनते हैं।
किन्तु सकल अणु पल में घुलकर व्यापक नील शून्यता सा,
जगती का आवरण वेदना का धूमिल पट बुनते हैं॥

किन्तु कल्याणमार्ग पर चलने वाले पथिकों को भी 'तियछवि छाया-ग्राहिणी' अछूता नहीं छोड़ती। वे भी समय समय पर उसके वश में आ जाते हैं; वे भी कभी कभी काली आँखों की मार से चलनी हो जाते हैं:—

काली आँखों में कितनी, यौवन के मद की लाली,
मानिकमदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।

नतमस्तक कमलिन से आपकी नीचे लिखी प्रार्थना अत्यंत कमनीय बन पड़ी है:—

हे लाजभरे सौंदर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों?

× × × ×

मेरी आँखों की पुतली में तू बनकर प्राण समा जा रे।
जिससे कण कण में स्पंदन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो।
करुणा का नव अभिनन्दन हो,

× × × ×

वह जीवन गीत सुना जा रे।
खिंच जाय अधर पर वह रेखा॥
जिसमें अंकित हो मधुलेखा,
जिसको वह विश्व करे देखा,
वह स्मित का चित्र बना जा रे।

स्नेहालिङ्गन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो।
जीवनधन ! इस जले जगत को वृंदावन बन जाने दो॥

रहस्यवाद और शृङ्गार की अलसमुद्रा में भी प्रसाद जी अपने देश को नहीं भूलते:--

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरसगर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा॥

× × × ×

करुणा कादंबिनि बरसे—
दुख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे।
प्रेमप्रचार रहे जगतीतल दयादान दरसे।
मिटे कलह शुभ शांति प्रकट हो अचर और चर से॥

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला; जन्म सं० १६५३

महिषादल राज्य, मेदिनीपुर, बङ्गाल में उत्पन्न होने वाले, उन्नाव जिले के निवासी पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी ने अपनी बङ्गलानुयायिनी अनुकांत रचनाओं से हिन्दी की 'उस नवीन प्रवृत्ति को वेगवती बनाया, जिसका

जन्म हम पिछले अध्याय में आने वाले कवियों की रचनाओं में देख चुके हैं। आपने अनेक पत्र-पत्रिकाओं का संपादन करते हुए अनामिका, परिमल, गीतिका और तुलसीदास नामक काव्यग्रंथों की रचना की है। परिमल में अठत्तर कविताओं का संग्रह है, जो कवित्व की दृष्टि से सब की सब उत्कृष्ट हैं।

आदर्श आपका वही 'पार' है, जहाँ :—

हमें जाना है जग के पार—
जहाँ नयनों से नयन मिले।
ज्योति के रूप सहस्र खिले,
सदा ही बहती नवरस धार।
वहीं जाना, इस जग के पार॥

—'उस पार', जहाँ काल की तरी पर फिर न बैठना पड़े, जहाँ आवागमन की भीति न हो, जहाँ पहुँच इस बात का खेद न हो :—

देख चुका जो जो आए थे,
चले गए!
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब
भले गए।

× ×

चिंताएँ बाधाएँ,
आती ही हैं, आएँ
अंध हृदय है, बंधन निर्दय लाएँ!

मैं ही क्यों, सब ही तो ऐसे
छले गए।
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब
भले गए॥

संसार की नश्वरता को याद कर आप यमुना को कृष्ण की लीला याद दिलाते हैं :—

बता कहाँ अब वह वंशीवट ?
कहाँ गए नटनागर श्याम ?
चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृंदाधाम ?
कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्यामविरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछ लीं वे दृगनीर ?
कहाँ छलकते अब वैसे ही
व्रजनागरियों के गागर ?

'भारत की विधवा' के चित्रण में आपने करुणवृत्ति का मार्मिक अभिव्यंजन किया है :—

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा सी,
वह दीप-शिखा सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर कालतांडव की स्मृतिरेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

आत्मानुभूति की इस उत्कटता के सहारे ही आप चलते चलते सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्वों का मार्मिक व्याख्यान कर जाते हैं :—

जीवन की सब विजय, सब पराजय
चिर अतीत आशा, सुख, सब भय
सब में तुम, तुम में सब तन्मय,
करस्पर्शरहित और क्या है ? अपलक, असार !
मेरे जीवन पर यौवनवन के वहार ॥

'सब में तुम और तुम में सब तन्मय' से उस अनंत शक्ति का आभास होता है, जिसकी अनुभूति के उपरांत विजय और पराजय दोनों एक ही घटना के दो रूप ठहरते हैं। 'तुम और मैं' नाम की कविता में आपने इसी तत्त्व की व्याख्या की है।

सुमित्रानंदन पंत; जन्म सं० १६५८

हिंदी के कल्पना और सुकुमार भावनाप्रधान कवि पंत का जन्म संवत् १६५८ में, अल्मोड़ा के कौसानी नामक स्थान में हुआ। म्योर सेंट्रल कालेज, इलाहाबाद में पढ़ते समय आप पर अंग्रेजी के प्रोफ़ेसर पंडित शिवाधार पांडेय का प्रभाव पड़ा और तभी से आप छायावादी कविता करने लगे। आपकी रचनाएँ उच्छ्वास, पल्लव, वीणा, ग्रंथि, गुंजन, ज्योत्स्ना आदि के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं।

आपका भावप्रवण हृदय और आपकी कलित, कोमल कल्पनाशक्ति उस अनंत की खोज में रहते हैं, जो :—

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास;
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शांत अंबर में नील विकास,

वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास
काव्य में रस, कुसुमों में वास,
अचल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास !
विविध द्रव्यों में विविध प्रकार
एक ही मर्म मधुर झंकार।

× × ×

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार;
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोकसेवा में शिव अविकार
स्वरों में ध्वनित मधुर, सुकुमार
सत्य ही प्रमोद्गार;
दिव्य सौंदर्य, स्नेह साकार,
भावनामय संसार !
स्वीय कर्मों ही के अनुसार
एक गुण फलता विविध प्रकार ॥

इस असीम सौंदर्य के गोचर हो चुकने पर जीवन समष्टिमय बन जाता है, और सुखदुःखादि प्रतीपी भाव एक ही लोकालोक पर्वत के दो पक्ष भासित होने लगते हैं :—

सुख दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन ;
फिर घन में ओझल हो शशि फिर शशि से ओझल हो घन ।

जग पीडित है अति दुख से, जग पीडित है अति सुख से;
मानव जग में बँट जावे दुख सुख से औ सुख दुख से।
अविरत दुख है उत्पीडन, अविरत सुख भी उत्पीडन,
सुख दुख की निशादिवा में, सोता जगता जग-जीवन ॥

× × × ×

वन की सूनी डाली पर सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना ॥

यही कारण है कि पंत जी जगह जगह प्रकृति के अंतरात्मा से अपनी उत्कट अनुभूति को मिला देते हैं। इसी से वे जगह जगह:—

सिखा दो ना हे मधुपकुमारि!
मुझे भी अपने मीठे गान,
कुसुम के चुने कटोरों से,
करा दो ना, कुछ कुछ मधुपान।

—मधुपकुमारियों से मधु की भिक्षा माँगते हैं और उनसे अपने स्वर्णगान लौटा देने की प्रार्थना करते हैं:—

विजन वन में तुमने सुकुमारि,
कहाँ पाया मेरा यह गान?
मुझे लौटा दो, विहगकुमारि,
सजल मेरा, सोने का गान।

पंत की माँग पूरी नहीं होती। प्रणयिनी गाना न सुना मुँह फेर लेती है। पंत के मन में टीस उठती है। वह वियोग, विकलता और बेचैनी में अटपटाने लगता है:—

पर हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ किसी निर्जन विपिन में बैठकर।
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी,
भग्न भावी को डुबा दे आँख सी ॥

अपनी विकलता में उसे चारों ओर भाग्य की धाँधली दीख पड़ती है:—

कौन दोषी है ? यही तो न्याय है !
वह मधुप बिंधकर तड़पता है, उधर
दग्ध चातक है तरसता, विश्व का
है नियम यह, रो, अभागे हृदय ! रो ॥

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर,
विरह ! अहह कराहते इस शब्द को।
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंक से,
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा !!

पंत की कल्पना अत्यंत नवीन तथा भावपूर्ण है। शशि के वदन के बीच में रजनी का डोलना कैसा चमत्कारपूर्ण है:—

बाल रजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में;
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुकवि के काव्य में।

नीचे लिखे पद्य में रति ने मोतियों की लूट देखकर अपनी मंजूषा पर कैसी मनोहर मोहर लगवा दी है:—

देख रति ने मोतियों की लूट यह
मृदुल गालों पर सुमुखि के लाज से
लाख सी दी त्वरित लगवा, बंदकर
अधर विद्रुमद्वार अपने कोश के ॥

ऐसी ही एक और कल्पना देखिये:—

लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब से
छलकती थी बाढ़ सी सौंदर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप से ॥

आपकी अलंकार-योजना भी अत्यंत सुन्दर है :—

इंदु पर, उस इंदु-मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे; पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था !

आपका बादलों का वर्णन अपूर्व संपन्न हुआ है :—

धूम धुँआरे काजर कारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदनराज के वीर बहादर,
पावस के उड़ते फणिधर ॥

नीचे की पंक्तियों में पक्षियों के प्रातःकालीन कलरव का कैसा मार्मिक तथा रागात्मक वर्णन है :—

प्रथम रश्मि का आना रंगिनि,
तू ने कैसे पहचाना,
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनि,
पाया तू ने यह गाना ?
शशि किरणों से उतर उतर कर
भू पर कामरूप नभचर,
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना । इत्यादि

भाषा पर आपका अच्छा अधिकार है। आपने अपनी रचनाओं में अनेक शब्द नये गढ़े हैं। समासांत पदों के प्रयोग में आप अत्यंत पटु हैं। कई शब्द पुंलिंग से स्त्रीलिंग में और स्त्रीलिंग से पुंलिंग में व्यवहृत किये हैं, जो आपका अपना निजी सिद्धांत है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि की अच्छी छटा खड़ी की है। भाषा संगीतमयी है और पंत की वीणा पर लहराती हुई पाठकों को लोकांतरित कर देती है।

मोहनलालमहतो वियोगी; जन्म सं० १९५९

हिंदी के पूर्ण नवीनतावादी कवि, वियोगी का जन्म, संवत् १९५९ में गया जी में हुआ। हिंदीक्षेत्र में आने के लिए माधुरी द्वारा प्रोत्साहित होकर आपने महामहोपाध्याय पंडित गंगानाथ झा सरीखे विद्वानों का प्रसाद प्राप्त किया। आपकी कविताओं के संग्रह निर्माल्य, एकतारा और कल्पना के रूप में प्रकाशित हुए हैं।

वेदना, प्यार, प्रसार और सुकुमारता आपकी रचना के निजी गुण हैं। वियोगी की वेदना अंतस्तल की है; वह उसके दिल की कसक है; उसमें उसका अंतरात्मा प्रवाहित है। वियोगी का प्यार सच्चा है, व्यापक है; प्रेयसी की तामरस गालों में बँधा हुआ भी उस अनंत तत्त्व की ओर झुका हुआ है, जो :—

मैंने देखा जिधर वियोगी तुझे उधर ही लख पाया;
इधर कहाँ ? वह खड़ा रहा, तू फिर न दृष्टिपथ में आया।
तब अचेत सा शीघ्र हाय मैं,
मेरा वह चैतन्यज्ञान भी खो गया।
फिर देखा तू आया,
हँसी और कुछ गाया॥

जो सौंदर्य सुमनवास, एकांतमिलन, चुंबन और कमसिन की नागिन चितवन में सुंपुटित होकर भी इनसे कहीं दूर रहता है, जिसका मार्ग, जिसका ठिकाना 'अज्ञात' है, वियोगी उसी तत्त्व में लीन होने के लिए लालायित है। वह कहता है:—

शीघ्र खोल दो द्वार खड़ा हूँ बहुत देर से आकर;
अरे प्रवासी ! समय हो गया चलने का, निकलो बाहर।
शून्य हो गये चरागाह सब गौएँ गोठों में आईं;
देखो, अंतहीन अंबर में तारावलियाँ भी छाईं॥

कभी कभी प्रेममद के आलंकारिक प्याले को भी आप याद कर लेते हैं;—

तेरे अधरामृत सा यह प्याला।
होठों से लगा रहे !
पीने का अनुराग 'वियोगी'
प्रबल रूप से जगा रहे।
इतना ढले कि सारे जग को—
मदिरा का पियाला लेखूँ।
अपने में मैं तुम्हें, और
तुम में अपने को देखूँ॥

आप रवींद्र को अपना काव्यगुरु स्वीकार करते हैं।

महादेवी वर्मा; जन्म सं० १९६४

प्रयाग महिलाविद्यापीठ की आचार्य और चाँद की संपादिका श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म संवत् १९६४ में फर्रुखाबाद में हुआ। शिक्षा-दीक्षा के उपरांत आप हिंदी कविताक्षेत्र में आईं और थोड़े ही दिनों में आपने हिंदी के उत्कृष्ट कवियों में अपना स्थान बना लिया। आपकी रचनाएँ नीहार, रश्मि और सांध्यगीत के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। नीरजा नामक पुस्तक पर आपको संमेलन से सेकसरिया नामक पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

मधुरता, कोमलता, वेदना, प्रेमपीर आपके हृदय की प्रधान वस्तु हैं, और आपका भावनामय जगत् निराशा और कसक से आक्रांत है। आपकी अनुभूति में एक ऐसी टीस बैठी है, जो कविता के रूप में प्रवाहित हो पाठकों को करुणारस से प्लावित कर देती है। नीहार और रश्मि नामक पुस्तकों में आपने अपनी इस निराशा का चित्र खींचा है। आप कहती हैं:—

अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली;
प्राणों का दीप जलाकर करती रहती दीवाली।

नीरजा और सांध्यगीत में आपकी यह टीस पवित्र प्रेमरूप में परिवर्तित हो हमारे सामने आई है। प्रतीत होता है कि निराकार की कल्पना और भावना करते २ उन्हें 'अभाव' के पीछे छिपे हुए 'भाव' का भास हो गया है और उससे साक्षात्कार करने के लिए विह्वल हो वे आगे बढ़ रही हैं। अब उनके हृदय की रागिनियाँ दुःख की घनीभूत पीड़ा और वेदना के करुण क्रन्दन के रूप में ही नहीं लहरित होतीं, अब उनकी झनकार में आँखमिचौनी खेलने वाले प्रियतम का मधुर हास्य भी सुनाई देता है; उसके मोहक स्मित की स्फीत रेखा भी खिंची हुई दीख पड़ती है:—

नीरवतम की छाया में छिप सौरभ की अलकों में—
गायक, वह गान तुम्हारा आ मँडराया पलकों में।
मैं मतवाली इधर उधर प्रिय मेरा अलबेला सा है,
मेरी आँखों में ढलकर छवि उसकी मोती बन आई।
उसके घन प्यालों में है विद्युत सी मेरी परछाईं,
नभ में उसके दीप, स्नेह जलता है पर मेरा उनमें;
मेरे हैं यह प्राण, कहानी पर उसकी हर कंपन में॥

संध्या का निम्नलिखित वर्णन कितना सजीव, मनोरम तथा हृदयस्पर्शी संपन्न हुआ है :—

रागभीनी तू सजनी, निःश्वास भी तेरे रँगीले।
लोचनों में क्या मदिर नव
देख जिसको नीड की सुधि फूल निकली बन मधुर रव।
झूमते चितवन गुलाबी
में चले धर खग हठीले
छोड़ किस पाताल का पुर
राग से बेसुध, चपल सपने सजीले नयन में भर,
रात नभ से फूल लाई।
आँसुओं से कर सजीले॥

संसार का वर्णन आपका सचमुच अनोखा है :—

निःश्वासों का नीड़, निशा का,
बन जाता जब शयनागार,

लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के वंदनवार।
तब बुझते तारों के निष्प्रभ नयनों का यह हाहाकार'
आँसू से लिख लिख जाता है 'कितना अस्थिर है संसार'।

हँस देता जब प्रात सुनहरे।
अंचल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब
मचली पड़तीं किरणें भोली।
तब कलियां चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार।
छलकी पलकों से कहती हैं 'कितना मादक है संसार'॥
स्वर्ण वर्ण से दिन लिख जाता
जब अपने जीवन की हार
गोधूली नभ के आँगन में
देती अगणित दीपक बार,
हँसकर तब उस पार तिमिर का कहता बढ़ बढ़ पारावार।
'बीते युग पर बना हुआ है अब तक मतवाला संसार'॥
स्वप्नलोक के फूलों से कर
अपने जीवन का निर्माण,
अमर हमारा राज्य सोचते
हैं जब मेरे पागल प्राण,
आकर तब अज्ञात देश से जाने किसकी मृदु झंकार,
गा जाती है करुण स्वरों में 'कितना पागल है संसार'!

भगवतीचरण वर्मा; जन्म सं० १९६०

वर्मा जी का जन्म संवत् १९६० में शफीपुर, जिला उन्नाव में हुआ। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी द्वारा प्रोत्साहित हो आप हिंदी क्षेत्र में अग्रसर हुए। आपकी रचनाएँ मधुकण और प्रेमसंगीत के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं।

आपकी कविता का प्रधान संदेश जीवन में अविरित कर्म करते रहना है। आपकी आस्था शांति में नहीं, विरति में नहीं, गोसाईं जी के 'कर्म-प्रधान बिस्व करि राखा' में है। आप महत्त्वाकांक्षी हैं। आपके जगत् की परिधि नहीं, थाह नहीं। आपके जीवन की उपवनी पर शिशिर नहीं आता; वसंत नहीं बसाता। यह अनादि है, अनंत है :—

एक, एक के बाद दूसरा, तृप्ति प्रलय पर्यंत नहीं,
अभिलाषा के इस जीवन का आदि नहीं है, अंत नहीं।
यहाँ सफलता असफलता के बंधन का अभिशाप नहीं,
यहाँ निराशा औ आशा का पतझड़ नहीं, वसंत नहीं।
जो पूरी हो सके कभी भी, ऐसी मेरी चाह नहीं,
यहाँ महत्त्वाकांक्षाओं की परिधि नहीं है, थाह नहीं।

क्या भविष्य है ? नहीं जानता, मुझको ज्ञात अतीत नहीं,
सुख से मुझको प्रीति नहीं है, दुख से मैं भयभीत नहीं।
लड़ता ही रहता हूँ प्रतिपल, बाधाओं का पार नहीं,
कालचक्र के महासमर में हार नहीं है, जीत नहीं ॥

आपके इस अनवरत, अथक युद्ध का स्रोत वही प्रेम है जिसके रंग में रँगे जाने पर प्रेमी उन्मत्त हो प्रेयसी पर सर्वस्व वारने को उद्यत हो जाता है। वर्मा जी का यह प्रेमसंदेश प्रेम के पुजारियों को मोहने वाला है। आपके प्रेमगीतों में कोमलता, मधुरता, उन्मादकता और जीवन की सरलता का बड़ा ही सुंदर समन्वय है :—

अलस नयनों में लिये हो,
किस विजय का भार रंगिनि !
झुक पड़ी मधु से निकल,
पुलकित कली ने आँख खोली।

झुक पड़ी भूली हुई सी
आज पागल मधुप टोली;
झुक पड़ी कोमल झुकी सी
आम्र डाली पर कुहुक कर।
और सौरभ भार से झुक
कर मलय वातास डोली।
आज बंधन बन रहा है
प्यार का उपहार रंगिनि!
अलस नयनों में लिये हो।
किस विजय का भार रंगिनि?

रामकुमार वर्मा; जन्म सं० १९६२

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी अध्यापक कवि रामकुमार वर्मा का जन्म, संवत् १९६२ में मध्य प्रदेश के सागर जिले में हुआ। कालेज की शिक्षा समाप्त करने के उपरांत आप प्रयाग विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक नियुक्त हो गये।

वीर हम्मीर, कुलललना, चितवन, चित्तौड़ की चिता नामक पुस्तकें लिखकर प्राप्त की ख्याति में आपने अभिशाप, अंजलि, रूपराशि, निशीथ, चित्ररेखा और चंद्रकिरण नामक रचनाएँ प्रकाशित करके चार चाँद लगाये।

दूसरे वर्ग की रचनाओं में कोमल भावना और कलित कल्पना का सुंदर सामंजस्य है। इनमें आप प्रकृति के पल्लवित रूप को स्पर्श करते हुए उसकी थाह में अरूप के रूप की उद्भावना करना चाहते हैं। अनुभूति की उस निभृत अवस्था में आपको चारों ओर प्रेम और सौंदर्य की किरणें छिटकी दिखाई देती हैं; किंतु उन तरल किरणों में घनता न होने के कारण आपके मन में भावनामयी निबिड़ निराशा का संचार हो जाता

है। सौंदयदर्शन की इस इच्छा और उसके सफल न होने से उत्पन्न होने वाली निराशा के संयोग में ही वर्मा की रुचिर रचना का चमत्कार हुआ है।

हृदय एक है उसमें कितनी ओर लगी है आग,
उसे शांत करने को लोचन अश्रु रहे हैं त्याग।
किन किन रंगों में हँसकर फूलों के दिव्य स्वरूप,
हिलते थे उस स्वर्ण नदी में, जो कहलाती धूप॥

आप कल्पनाप्रिय कवि हैं। कल्पना का उपनेत्र पहर, भावना की मदिल धुँध में आप अनिर्देश्य के दर्शन किया करते हैं। तब आपकी दृष्टि अनंत की परिधि तक पहुँच जाती है और आप चर अचर की अंतस्तली में प्रवाहित होने वाले ऐक्य का स्वाद लेते हैं। उस ऐक्य के आलोक में जीवन और मरण का भेद छूट जाता है और प्रसाद तथा विषाद एक ही लोकालोक पर्वत के दो पक्ष बन जाते हैं :—

हास्य कहाँ है? उसमें भी है
रोदन का परिणाम,
प्रेम कहाँ है? घृणा उसी में
करती है विश्राम।
दया कहाँ है? दूषित उसको
करता रहता रोष;
पुण्य कहाँ है? उसमें भी तो
छिपा हुआ है दोष।
धूल, हाय; बनने ही को
खिलता है फूल अनूप;
वह विकास है मुरझा जाने
ही का पहला रूप।

इसमें इसी दार्शनिक तत्त्व का रागात्मक व्याख्यान किया गया है। आपकी कल्पना अत्यंत विशद तथा कुशाग्र है। उसकी कूंची से आप

जहाँ चाहें सोना चीत देते हैं; जिसे चाहें अमर बना देते हैं। नीचे की पंक्तियों में आपने रात में खिले तारों को 'फूलों के गुंफित गजरे' बना दिया है :—

इस सोते संसार बीच जग कर, सज कर रजनी वाले !
कहाँ वेचने ले जाती हो ये गजरे तारों वाले ?
मोल करेगा कौन ? सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी;
मत कुम्हलाने दो सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी ॥

निर्झर निर्मल जल में ये गजरे हिला हिला धोना;
लहर हहर कर यदि चूमें तो किंचित विचलित मत होना।
होने दो प्रतिबिंब विचुंबित, लहरों ही में लहराना,
लो, मेरे तारों के गजरे निर्झर स्वर में यह गाना।
यदि प्रभात तक कोई आकर तुम से हाय ! न मोल करे,
तो फूलों पर ओस रूप में बिखरा देना सब गजरे ॥

सुभद्राकुमारी चौहान; जन्म सं० १९६१

आपकी कविता अधिकतर राष्ट्रीय है। आपकी झाँसी की रानी नामक कविता बड़ी लोकप्रिय हुई है। आपकी अन्य रचनाएँ मुकुल में संगृहीत हैं। आपकी कविता में न दूर की सूझ है, न अनंत की जोड़; न क्लिष्ट कल्पना, और न अद्भुत अलंकारिक योजना; एकमात्र अंतस्तल में व्याप्त रहने वाली सच्ची अनुभूति तथा उसका सहज व्याख्यान ही उसकी सजीवता तथा प्रभावकारिता के प्रमुख साधन हैं। 'मेरा नया बचपन', 'बालिकापरिचय' आदि वात्सल्यरस की रचनाओं में आपने इसी बात के आधार पर सफलता पाई है।

आपकी 'ठुकरा दो या प्यार करो' नामक कविता सुन्दर बन पड़ी है:—

धूप नहीं नैवेद्य नहीं, झाँकी का शृंगार नहीं।
हाय गले में पहनाने को, फूलों का भी हार नहीं॥

स्तुति मैं कैसे करूँ कि स्वर में मेरे है माधुरी नहीं।
मन का भाव प्रकट करने को, मुझमें है चातुरी नहीं ॥
नहीं दान है नहीं दक्षिणा, खाली हाथ चली आई।
पूजा की भी विधि न जानती, फिर भी नाथ चली आई ॥
पूजा और पुजापा प्रभुवर, इसी पुजारिन को समझो।
दान दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिन को समझो ॥
मैं उन्मत्त प्रेम की लोभी, हृदय दिखाने आई हूँ।
जो कुछ है बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ ॥
चरणों पर है अर्पण इसको चाहे तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो ॥

पिछले अध्यायों में हमने हिंदी के आधुनिक कवियों पर सामान्य रूप से विचार किया है और उनके अपने अपने भाव, भाषा और शैलियों पर प्रकाश डाला है। इनकी कविता में विश्वजनीनता कहाँ तक है, इस बात का निर्णय समय करेगा। कुछ भी हो, हमें उनकी आरंभिक कठिनाइयों पर ध्यान देते हुए उनकी रचनाओं का आदर करना चाहिए। स्मरण रहे, नैसर्गिक प्रतिभा सब में नहीं हुआ करती। शताब्दियों की सामान्य प्रतिभाओं का समष्ट्यात्मक अविकल प्रकाशन तो विरले ही कवियों में हुआ करता है। आकस्मिक और विलक्षण कहाने वाली प्रतिभाएँ छोटी छोटी असंख्य प्रतिभाओं का सामूहिक उद्गारमात्र होती हैं। कालिदास, कबीर, तुलसी और सूर की लोकोत्तर रचनाओं में उनके पूर्ववर्ती अगणित कवियों की स्फुट रचनाओं का अविकल प्रस्फुटन हुआ था। 'अब वर्तमान कवियों ने बड़े परिश्रम से ऐसा वायुमंडल प्रस्तुत किया है, जिसमें किसी न किसी लोकोत्तर प्रतिभा का आलोकित होना अवश्यंभावी है। उसके प्रखर प्रकाश में इन दीपकों के मंद पड़ जाने में ही इनका महत्त्व है। परंतु इनकी उपयोगिता का एकांततः नष्ट हो जाना उतना ही असंभव है जितना कि यह हमारे लिए हानिकर है। हमारे जीवन में ऐसे अंधकारमय कोने

भी होते हैं, जहाँ जगद्विजयिनी प्रतिभाओं का प्रकाश नहीं पहुँच पाता। ऐसे कोनों में हम इन्हीं टिमटिमाते दीपकों से अपना काम चलाते हैं।' इसमें संदेह नहीं कि हरिश्चंद्र से लेकर आज तक कोई भी ऐसा कवि नहीं हुआ, जिसकी रचनाओं का तुलसी अथवा सूर की रचनाओं के साथ सांमुख्य किया जा सके। परंतु इसके साथ ही हम यह भी कहेंगे कि इन दिनों का हिंदीसंसार किसी ऐसे मानसिक प्रबल आवेग से उद्वेजित भी नहीं हुआ, जिसकी तुलना फ्रांस की राज्यक्रांति, शेक्सपेरियन युग अथवा रूस के राज्यविप्लव से की जा सके। समाज को इन दुर्धर्ष क्रांतियों में समाज के युगयुगागत भावों तथा सिद्धांतों का क्रियात्मक संघर्ष होता है। आवश्यकता के समय अकस्मात् उदय होनेवाली लोकोत्तर प्रतिभाओं में इस संघर्ष का वाचात्मक प्रकाशन होता है। भारत में बंगविच्छेद तथा खिलाफत जैसे आंदोलन हुए, फलतः यहाँ रवींद्र तथा महात्मा गांधी जैसी प्रतिभाएँ भी उत्पन्न हुईं; किंतु इन दोनों महानुभावों की रचनाएं हिंदी में न होकर दूसरी भाषाओं में हैं। अभी हिंदी कवियों को समाज ने कोई ऐसे भावनामय नवीन विचार नहीं दिये, जिनके आधार पर वे किसी प्रकार की विश्वजनीन कविता प्रस्तुत कर सकते। जिस अनिश्चित संतोष के साथ हम अपने परंपरागत धार्मिक विश्वासों और संकीर्ण सामाजिक संस्कारों में अपना जीवन घसीटते आये हैं, उसी शिथिलता के साथ हमारे कवियों ने प्राचीन काव्यशास्त्र की रीतियों में अंध श्रद्धा के साथ निर्जीव कविताएँ की हैं। जिस हिचक के साथ हमने नये विचारों और सुधारों को अपनाया, उसी झिझक के साथ उन्होंने नये विषयों और शैलियों का हाथ पकड़ा। अतीत का अंध प्रेम हमसे अब तक नहीं छूटा है। वर्तमान का यथार्थ आशय हमने अब तक नहीं समझा है। भविष्य का चित्र हमारे संमुख अब तक नहीं आया है। इन कठिनाइयों के सघन कानन में से हमारे वर्तमान कवियों ने पगडंडियाँ निकाली हैं। उनपर राजपथ बनाना हमारा काम है।

————

अध्याय १६

आधुनिक युग

गद्य का विकास

आधुनिक युग की सब से बड़ी विशेषता है खड़ी बोली में गद्य का विकास। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक का हिंदी साहित्य पद्य में मिलता है। इसके कुछ अपवाद भी हैं। चौदहवीं सदी में गुरु गोरख ने एक पुस्तक गद्य में लिखी थी। सोलहवीं सदी में विट्ठल ने मुंडन और गोकुलनाथ ने चौरासी वार्ता नामक पुस्तकें गद्य में लिखी थीं। सत्रहवीं सदी में दामोदरदास ने मार्कंडेय पुराण का हिंदी गद्य में अनुवाद किया था। इनके अतिरिक्त कुछ टीकाएँ भी गद्य में लिखी गई थीं। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक लिखे गये व्यापक हिंदी साहित्य में उक्त पाँच-छः गद्य-ग्रंथ समुद्र में बिंदु के समान हैं।

उक्त पुस्तकों का गद्य भी ब्रज भाषा में था। इनमें बोलचाल की भाषा का मिश्रण नहीं के तुल्य था; इसी कारण गद्य के विकास को प्रगति न मिली थी। नवीन युग के उदय के साथ राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में प्रबल परिवर्तन हुए। वेदांतवाद, भक्तिवाद, आदर्शवाद तथा शृंगार और रीति का स्थान राजनीति, विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि ने ले लिया, और इन वादों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाली हिंदी कविता के स्थान में व्यापक हिंदी गद्य का आविर्भाव हुआ।

किंतु गद्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा उपयुक्त न ठहरी। अरबी, फ़ारसी भी

व्यवहारयोग्य भाषाएं न थीं। राजदरबार से फ़ारसी का चलन उठ गया था और उसकी जगह उर्दू ने ले ली थी। किंतु ठेठ उर्दू भी जनसाधारण के घर की चीज न थी। अंग्रेज अफ़सर तक इस बात को मानते थे। इसी कारण उन्होंने बाइबिल का अनुवाद पादरियों द्वारा ठेठ हिंदी में कराया था। वे लोग शासन की सुविधा के लिए जनता की निजू भाषा से परिचित होना चाहते थे। इसी उद्देश्य से इन्होंने फोर्ट विलियम कालेज में (१८००; कलकत्ता) उर्दू के साथ साथ खड़ी बोली के पठन-पाठन का आयोजन किया। वहां के आचार्य जॉन गिलक्राइस्ट ने हिन्दी में अनेक ग्रंथ भी लिखवाये।

यद्यपि खड़ी बोली का प्रचार खुसरो और कबीर से पहले भी मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में था और गंगभाट (सं० १६२०), जटमल(१६०७) आदि ने इसका प्रयोग गद्य में किया भी था, तथापि उसमें साहित्यिक क्षमता न आ पाई थी, और वह बोलचाल तक ही परिसीमित रह गई थी। खड़ी बोली को सुचारुरूप से गद्यक्षेत्र में अवतीर्ण करके इसमें साहित्यिक क्षमता उत्पन्न करने का श्रेय निम्नलिखित चार महानुभावों को है, जिनमें से दो ने अपने अंतरात्मा के आनंद के लिए लेखनी पकड़ी थी और शेष दो ने फोर्ट विलियम कालेज के आचार्य गिलक्राइस्ट के कहने पर गद्य-रचना की थी। इनका कार्य १८६० के आसपास आरंभ होता है।

सदासुखलाल; सं० १८०३-१८८१

ये दिल्ली के रहने वाले थे। इनका उपनाम नियाज़ था। इनका जन्म संवत् १८०३ में और मृत्यु संवत् १८८१ में हुई। संवत् १८५० के लगभग ये कम्पनी की अधीनता में ज़िला मिर्जापुर में अच्छे पद पर थे। पैंसठ वर्ष की अवस्था में नौकरी छोड़कर ये प्रयाग चले आये और जीवन का शेष भाग इन्होंने वहीं भगवद्भजन में व्यतीत किया।

आपने श्रीमद्भागवत का स्वच्छंद अनुवाद सुखसागर के नाम से हिंदी में किया था, जिसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं; आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से लोग हमें नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए; कोई बुरा माने कि भला माने।"

भगवत्प्रेमी सदासुखलाल ने, खास दिल्ली के निवासी होने पर भी अपने गद्य में कथावाचकों, पंडितों और साधु-संतों के बीच दूर दूर तक प्रचलित रही खड़ी बोली का रूप रक्खा और उसमें संस्कृत का प्रयोग भी उचित मात्रा में किया।

लल्लूलाल जी; सं० १८२०–१८८२

ये आगरा के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे। संवत् १८६० में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष जॉन गिलक्राइस्ट के कहने पर इन्होंने प्रेमसागर नाम का गद्यग्रंथ लिखा। इसमें श्रीमद्भागवत के दशम-स्कंध की कथा का वर्णन है। इनके गद्य में व्रजभाषा का संमिश्रण है। उदाहरण के लिए:—

"जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचंद्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चन्द्रमा छबि-छीन हुआ। बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंह की बंकाई निरख धनुष धकधकाने लगा; आँखों की बड़ाई, चंचलाई पेख मृग, मीन, खंजन खिसाय रहे।"

आपकी भाषा कृष्णोपासक कथावाचकों की सी व्रजमिश्रित खड़ी बोली है। विदेशी शब्दों का बहिष्कार करने पर भी अनजान से आपकी

रचनाओं में बैरक आदि तुरकी भाषा के शब्द मिल गये हैं। इसमें तुक और अनुप्रास की बहुलता है और कवित्व की अच्छी झलक है।

सदल मिश्र; सं० १८३०–१८०५

ये आगरानिवासी लक्ष्मण मिश्र के पौत्र तथा वेदमणि के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १८३० के लगभग, और मृत्यु, संवत् १६०५ में हुई थी। लल्लूलाल जी की भाँति आपने भी गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से अपना नासिकेतोपाख्यान खड़ी बोली में लिखा था, जिसका नमूना नीचे दिया जाता है:—

"अब संवत् १८६० में नासिकेतोपाख्यान को कि जिसमें चंद्रावती की कथा कही है, देववाणी से कोई कोई समझ नहीं सकता, इसलिए खड़ी बोली में किया।

इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे।"

लल्लूलाल जी की भाँति इनकी भाषा में ब्रजभाषा के प्रयोगों का बाहुल्य और स्थान स्थान पर परंपरागत काव्यभाषा की कांत पदावली का प्रयोग नहीं है। आपने व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है और जहाँ तक हो सका है शुद्ध खड़ी बोली ही का प्रयोग किया है। पर फिर भी आपकी रचना में ब्रजभाषा के कुछ रूप आ ही गये हैं और पूर्वी बोली के शब्द तो स्थान २ पर मिलते ही हैं। फूलन्ह के बिछौने, सुनि, सोनन्ह के थम्भ आदि ब्रज के शब्द हैं और द्दहाँ, जौन आदि पूर्वी के।

इंशाअल्ला खाँ, मृत्यु संवत् १८७५

इनका जन्म मुर्शिदाबाद में हुआ था। इनके पिता का नाम

माशा अल्लाखाँ था। आप मशहूर शायर थे और दिल्ली के उजड़ने पर लखनऊ चले आये थे। नवाबों के यहाँ से वेतनादि बंद हो जाने के कारण आपके जीवन का अंतिम भाग कष्ट में बीता और १८७५ में आपकी मृत्यु हुई।

इंशा ने संवत् १८५५ और १८६० के बीच उदयभानपरिचय या रानी केतकी की कहानी लिखी। कहानी लिखने का सूत्रपात आप ही के शब्दों में यों हुआ था:—

"एक दिन बैठे २ यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। .... अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े लिखे, पुराने धुराने, डाग, बूढ़े घाग यह खटराग लाए .... और लगे कहने, यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन न निकले और भाखापन भी न हो।

इससे स्पष्ट है कि इंशा का लक्ष्य ठेठ हिंदी लिखने का था, जिसमें हिंदी को छोड़ और किसी बोली का पुट न रहे। भाखापन से आपका अभिप्राय संस्कृतमिश्रित हिंदी से था। जिस प्रकार मुसलमान अपनी अरबी-फारसी मिली हिंदी को उर्दू कहते थे, उसी प्रकार संस्कृत मिली हिंदी को वे भाखा नाम से पुकारते थे।

इंशा की रचना में बाहर की बोली (अरबी, फ़ारसी, तुरकी), गँवारी (व्रजभाषा, अवधी आदि) और भाखापन (संस्कृत के शब्दों) को दूर रखने की चेष्टा की गई है, फिर भी उसमें फारसी का लहजा कहीं कहीं आ ही गया है। जैसे:—

"इस सिर झुकाने साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को।"

आपकी भाषा चलती, चटपटी और मुहावरेदार हुई है। इसमें घरेलू व्यवहार के शब्द अधिक हैं। इंशा के वर्णन सर्वथा भारतीय हैं। कहना न होगा कि हिंदी गद्य की प्रतिष्ठापना का श्रेय उक्त चार सज्जनों को है; पर चारों महानुभावों के समकालीन होने पर भी इनके गद्य में अपनी अपनी विशेषताएँ हैं। सदासुखलाल का गद्य पंडिताऊपन लिये हुए है। इंशा ने अपनी रचना में ठेठ हिन्दी का ठाठ खड़ा करने का प्रयत्न किया है, न चाहने पर भी कहीं कहीं उस पर फ़ारसी की छाप लग गई है। लल्लूजीलाल की भाषा में व्रज का बाहुल्य है और सदल मिश्र की कृति में पूर्वी शब्दों का मेल है।

गद्य की एक साथ प्रतिष्ठा करने वाले उक्त चारों महानुभावों में से आधुनिक हिंदी का पूरा पूरा आभास मुंशी सदासुख और सदलमिश्र की भाषा में ही मिलता है। इन दोनों में भी सदासुख की भाषा अधिक महत्व की है। उन्होंने लेखनी भी चारों में सबसे पहले उठाई, अतः उन्हीं को आधुनिक गद्य का प्रधान प्रतिष्ठापक मानना चाहिए।

हिंदी गद्य की प्रगति के प्रसंग में उस काम के विषय में भी कुछ कह देना उचित प्रतीत होता है, जो इन दिनों विलियम केरी तथा उनके मित्र वार्ड और मार्शमान ने सिरामपुर में किया था। धर्मपुस्तकों के अतिरिक्त केरी ने भाषा की अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित कीं, जिनमें रामायण का नाम उल्लेख-योग्य है। इन पुस्तकों की बहु संख्या ई० सं० १८१२ में होने वाले सिरामपुर प्रेस अग्निकांड में नष्ट हो गई थी।

उक्त पुस्तकों की रचनाप्रणाली सदासुख और लल्लूलाल के पीछे चली है। उनमें अरबी फारसी का नाम नहीं, और ठेठ ग्रामीण शब्द तक निःसंकोच ही अपनाये गये हैं। उदाहरण के लिए:—

"यीशु ने उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे, क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए। यीशु बपतिस्मा लेके तुरंत जल के ऊपर आया, और देखो, उसके लिये स्वर्ग खुल गया।"

बाइबिल के हिंदी अनुवाद के पश्चात् ईसाइयों की धर्मपुस्तकें और ट्रैक्ट बराबर निकलते रहे। धर्मप्रचार के लिए इन्होंने नगरों और गांवों में पाठशालाएँ स्थापित कीं और शिक्षासंबंधी पुस्तकें भी प्रकाशित कीं।

यह युग जागृति का युग था। चारों ओर पादरियों के व्याख्यानों की धूम थी। उनकी मुक्तिफौज के प्रबल वेग में हिंदू जाति बही जा रही थी। सौभाग्य से इन्हीं दिनों काठियावाड़ में, संवत् १८८१ में, स्वामी दयानंद का जन्म हुआ, जिन्होंने हिंदू जाति और धर्म की रक्षा के लिए, गुजराती होते हुए भी, अपने ग्रंथ हिंदी में लिखे और संवत् १९३२ में ईसाइयत के प्रतिरोध के लिए आर्य समाज की स्थापना की। स्वामी दयानंद ने भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए जगह जगह शास्त्रार्थ किये और वेदों का हिंदी भाष्य करते हुए अपने अनुयायियों को स्थान स्थान पर संस्कृत शिक्षा के केंद्र गुरुकुल खोलने का आदेश किया। संस्कृतप्रेमी होने के कारण स्वामी जी के हिंदी गद्य में संस्कृत की पुट मिली रहती थी। आपके गद्य का एक उदाहरण:—

श्री भगवान् रस के सागर हैं। इसी रससिंधु से बिंदु बिंदु लेकर जीव जगत् में अनंत रसों का विकास हुआ है। पिता के चित्त में जो पुत्र के लिये वात्सल्यरस, पुत्र के हृदय में जो पिता के लिये श्रद्धारूप रस, पति के चित्त में जो पत्नी के लिये प्रेमरस, पत्नी के हृदय में जो पति के लिये मधुर रस, मित्र के चित्त में जो मित्र के लिये एकप्राणतारूप रस, शिष्य के चित्त में जो गुरु के लिये शुद्ध श्रद्धारूप रस, भक्त के चित्त में जो भगवान् के लिये भक्तिरस, ये सभी रस, आनंदकंद सच्चिदानंद श्री भगवान की आनंदधारा से उत्पन्न हुए हैं।

उक्त [illegible] में हमें हिंदी का विशुद्ध निखरा हुआ रूप मिलता है और उसमें साहित्यिक क्षमता पूर्णरूप से विकसित हुई प्राप्त होती है।

स्वामी जी ने हिंदी और संस्कृत का भरसक प्रचार किया। इसका

पंजाब पर अच्छा प्रभाव पड़ा। आर्यसमाजी संस्थाओं में हिंदी को स्थान दिया गया और शास्त्रार्थों और उपदेशों के रूप में हिंदी की विशुद्ध बलवती धारा प्रवाहित हो निकली।

पंडित श्रद्धाराम; मृ० सं० १६३८

संवत् १६२० के लगभग की पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम पंजाब में आरंभ हुई। इनकी वाणी में अद्भुत आकर्षण था और इनकी भाषा ओजपूर्ण, चलती होती थी। स्थान स्थान पर इन्होंने धर्मसभाएं स्थापित कीं और उपदेशक तैयार किये।

इनकी रचनाओं में सत्यामृतप्रवाह, इनकी आत्मचिकित्सा का हिंदी अनुवाद, तत्त्वदीपक, धर्मरक्षा, उपदेशसंग्रह, शतोपदेश तथा भाग्यवती नामक सामाजिक उपन्यास मुख्य हैं।

संवत् १६३८ में आपकी मृत्यु हुई।

दरबारी भाषा होने के कारण उर्दू को आसानी से स्कूलों और पाठ-शालाओं में स्थान मिल गया था। मुसलमान इसी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे; किंतु हिंदुओं की रुचि खड़ी बोली को शिक्षा का माध्यम बनाने की ओर थी। परिणाम यह हुआ कि उर्दू और हिंदी का झगड़ा ज़ोर पकड़ गया।

राजा शिवप्रसाद; सं० १८८०–१६५२

हिंदी के सौभाग्य से राजा शिवप्रसाद का उदय हुआ। १६०२ में आपने बनारस से बनारस अखबार नाम का समाचारपत्र निकाला, जिसमें अक्षर तो नागरी के होते थे, किंतु भाषा ठेठ उर्दू होती थी। यह काम आपने उस समय चलने वाले हिंदी उर्दू के झगड़े को देखकर किया था। संवत् १६१३ में राजा साहब स्कूलों के इंस्पेक्टर बने और आपने हिंदी को स्कूलों में स्थान दिलाया। उन दिनों हिंदीमें पाठ्य पुस्तकों का अभाव था;

इसे दूर करने के लिए आपने राजा भोज का सपना, वीरसिंह का वृत्तांत, आलसियों का कोड़ा, मानवधर्मसार, तथा इतिहासतिमिरनाशक आदि ग्रंथों का संकलन किया और पंडित वंशीधर से, संवत् १९१२ में, भारतवर्षीय इतिहास, जीविकापरिपाटी तथा जगवृत्तांत आदि पुस्तकें बनवाईं।

यहां यह कह देना आवश्यक है कि प्रारंभ में राजा साहब ने जो पुस्तकें लिखी थीं वे सरल शुद्ध हिंदी में थी। इतिहासतिमिरनाशक आदि पिछली पुस्तकों में उन्होंने मुसलमानों के प्रभाव में आ हिंदी में फारसी के शब्दों की भरमार कर दी। 'भाषा का इतिहास' नाम के अपने लेख में आप लिखते हैं :—

"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आमफहम और खास-पसंद हों, अर्थात् जिनको जियादा आदमी समझ सकते हैं, और जो यहाँ के पढ़े लिखे, आलिम फाजिल, पंडित, विद्वान् की बोलचाल में छोड़े नहीं गए हैं.... ।" आदि

राजा शिवप्रसाद ने प्रयत्न करके हिंदी को स्कूलों में स्थान तो दिलाया किंतु उस हिंदी का जो आदर्श उन्होंने तत्कालीन जनता के संमुख रक्खा, उससे उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व के नष्ट हो जाने की आशंका थी।

राजा लक्ष्मणसिंह; सं० १८८७–१९५६

इस आशंका को दूर करने के निमित्त राजा लक्ष्मणसिंह ने हिंदी में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग कर उसे हिंदू संस्कृति के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। उनकी संस्कृत-गर्भित हिंदी में कहीं कहीं आगरा के प्रांतीय प्रयोग आ जाते थे। अपनी शैली के प्रचार के लिए उन्होंने प्रजाहितैषी नामक समाचारपत्र भी निकाला था।

रघुवंश के गद्यानुवाद के प्राक्कथन में राजा लक्ष्मणसिंह ने भाषा के संबंध में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है :—

"हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं; उर्दू में अरबी पारसी के।

आपने अपने शकुंतला के अनुवाद में संस्कृतगर्भित हिंदी का सफलता के साथ प्रयोग किया है।

इस प्रकार हिंदी के हितैषी, राजा की पदवी से विभूषित दो महानुभावों ने उसके विकास के लिए दो प्रतिकूल शैलियों का सूत्रपात किया। एक, हिंदू और मुसलमानों को एक करने की नीयत से हिंदी को पारसीमय बनाना चाहते थे तो दूसरे हिंदुओं की संस्कृति को विशुद्ध बनाये रखने के उद्देश्य से हिंदी को संस्कृतगर्भित बनाकर उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनाये रखने की चिंता में थे।

नवीनचंद्रराय :—

जहां एक ओर संयुक्त प्रांत में राजा शिवप्रसाद हिंदी के प्रचार में दत्तचित्त थे वहां उन्हीं दिनों पंजाब के नवीनचंद्रराय हिंदी की सेवा में संलग्न थे। आपने बंगाली की सहायता से स्कूलों में पढ़ाने के लिये हिंदी साहित्य तैयार किया और साथ ही स्त्रीशिक्षा और समाजसुधार में भी आप अग्रसर हुए। आपने एक ज्ञान-प्रदायिनी पत्रिका भी प्रकाशित की।

श्रद्धाराम फुल्लौरी सं० १६२०

आपने अपने व्याख्यानों, कथाओं और पुस्तकों द्वारा पंजाब के सामाजिक क्षेत्र में फैलने वाले ईसाई संप्रदाय को रोका और सत्यामृत प्रवाह, आत्मचिकित्सा, तत्त्वदीपक, धर्मरक्षा, शतोपदेश आदि पुस्तकें लिखकर हिंदी की सेवा की।

भक्त विद्वानों ने हिंदी गद्य को अपने उपदेशों से अलंकृत कर समाज-सुधारकों ने उसे अपने प्रचार का माध्यम बनाकर हिंदी पुजारियों ने पत्र और पुस्तकों के लेखन और प्रकाशन द्वारा और ईसाई प्रचारकों ने उसे धर्म प्रचार का साधन बनाकर उसके प्रारंभिक विकास में पर्याप्त सहायता पहुँचाई। किंतु यह सब कुछ होने पर भी हिंदी गद्य की कोई विशेष रूपरेखा न बन पाई। इसे निश्चित रूपरेखा देने वाले थे :—

भारतेंदु हरिश्चंद्र; १६०७--१६४६

ऊपर की दो प्रतीपी शैलियों में से बीच की सरणि को अपना भारतेंदु ने नवीन हिंदी गद्य की प्राणप्रतिष्ठा की। भारतेंदु जी, हिंदी को न तो उर्दू-नुमा बनाना चाहते थे और न संस्कृतमय। वे उसे उसका अपना निजी रूप देना चाहते थे। अपनी रचनाओं में उन्होंने आवश्यकतानुसार सभी प्रकार के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया। मुन्शी सदासुखलाल की भाषा साधु होते हुए भी पण्डिताऊपन लिये थी; लल्लूलाल में व्रजभाषापन और सदलमिश्र में पूर्वीपन था। राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्दों तक ही परिसीमित न था, वह वाक्यविन्यास तक में घुस गया था। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा विशुद्ध और मधुर तो अवश्य थी पर आगरे की बोलचाल का पुट उसमें कम न था। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ।

हिन्दी गद्य के नवीन स्थिर रूप की प्रतिष्ठापना के साथ साथ भारतेंदु ने साहित्य के विविध अंगों के विकास की ओर भी ध्यान दिया। उन्होंने अपनी बंगालयात्रा के पश्चात् बङ्गाल के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद

किया और साथ ही मौलिक नाटकों की भी रचना की। वेदिकी हिंसा, कर्पूर-मंजरी, सत्य हरिश्चन्द्र, चंद्रावली, भारतदुर्दशा, अंधेरनगरी, नीलदेवी आदि नाटकों में आपने पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक जगत् की भव्य विवेचना की। कविवचनसुधा नाम की पत्रिका स्थापित कर आपने, सम्वत् १९३० में, हरिश्चंद्र मेगजीन (पीछे से हरिश्चंद्र-चंद्रिका) नाम की मासिक पत्रिका निकाली, जिसने हिन्दी गद्य को परिष्कृत तथा परिमार्जित बनाया।

भारतेन्दु के गद्य का उदाहरण:—

हम सरकार से और अपने सब आर्य भाइयों से हाथ जोड़कर निवेदन करते हैं; इसको सब लोग एक बेर चित्त देकर और हट छोड़कर सुनैं। यदि सर्कार कहै कि हम धर्म विषय में नहीं बोलते तो उस का हम से पहले उत्तर सुन ले। सती होना हमारे यहाँ स्त्रियों का परम धर्म है, इसको सर्कार ने बलपूर्वक क्यों रोका है? क्योंकि यह धर्म प्राण से सम्बन्ध रखता है और प्रजा के प्राण की रक्षा राजा को सब के पहले मान्य है।

(हरिश्चंद्र-चंद्रिका)

उपर्युक्त संदर्भ में हिन्दी का सामान्य रूप प्राप्त होता है। किन्तु जहाँ चित्त के किसी स्थायी भाव की अभिव्यक्ति है, वहाँ की भाषा अधिक साधु, परिष्कृत तथा संस्कृतगर्भित बन गई है :—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बंधु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्ति, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिन्दी का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों का एकमात्र जीवनदाता हरिश्चन्द्र ही दुखी हो?

(प्रेमयोगिनी में सूत्रधार)

प्राचीनता और नवीनता का रुचिर मिश्रण ही भारतेंदु की कला की विशेषता है। कभी वे रीतिकाल के कविताकुञ्ज में जा पैठते थे तो कभी

आधुनिक काल की वीथियों में विचरण करने लग जाते। कभी भंड साधुओं का भंडाफोड़ करते तो कभी सच्चे भक्त की भाँति हृदय को सांद्र बना देते। कभी समाज-सुधारक के रूप में कठिन कठोर आलोचनाएं करते तो कभी देश-प्रेम में मस्त हो आँखों से दरिया बहा देते। यही कारण था कि नये पुराने रसिक भक्त, सभी समानरूप से आपके प्रशंसक, सखा और साथी थे।

दाता ऐसे थे कि कभी किसी को द्वार से मोड़ा ही नहीं। सखा ऐसे थे कि एक दो नहीं अनेकों को हिन्दी की ओर प्रवृत्त कर लेखक और कवि बना दिया। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में आपका समय हरिश्चन्द्रकाल से विख्यात है। जीवन और साहित्य के अंतर को मिटा कर दोनों को मिला देने, साहित्य में नए-नए विषयों का समावेश करने, शब्दों को समुचित और सुन्दर रूप में बरतने और भाषा को परिष्कृत और परिमार्जित बनाने में भारतेंदु ने बड़ा काम किया है।

भारतेंदु द्वारा प्रवर्तित पत्र-पत्रिकाओं में भव्य निबंधों द्वारा विविध विषयों की विवेचना होने लगी और हिन्दी गद्य प्रबल वेग से अपने सर्वांगीण विकास की ओर अग्रसर हुआ। भारतेंदु जी के जीवनकाल में ही उनके चारों ओर हिन्दी लेखकों का अच्छा मंडल तैयार हो गया था, जिसमें पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी, श्रीनिवासदास तथा अम्बिकादत्त व्यास के नाम विशेषरूप से उल्लेख-योग्य हैं।

प्रतापनारायण मिश्र

मिश्र जी बैसवाड़े के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये भारतेंदु जी की शैली को ही आदर्श मानते थे। पर इनकी शैली वास्तव में भारतेंदु की शैली से बहुत भिन्न थी। जहाँ भारतेंदु की शैली मधुरता,

स्निग्धता, प्रांजलता तथा सरसता से संपन्न थी, वहाँ मिश्र जी की शैली में विनोद तथा मनोरञ्जन की मात्रा अधिक रहती थी। आपकी भाषा में पश्चिमी अवधी का मेल है और उसमें लोकोक्ति तथा मुहावरों का सुन्दर विधान है। आपके गद्य का एक उदाहरण:—

सहृदय सुहृद्गण आपस में आप आपकी बोली बोलते भी नहीं हैं। एक हमारे उर्दूदाँ मुलाकाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते जाते थे। पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायत वालों के आगे आप आप न किया करो। इससे भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है।

बालकृष्ण भट्ट

पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने १६३१ में अपना हिन्दीप्रदीप निकाला, जिसमें बत्तीस वर्ष तक सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, नैतिक सब प्रकार के गद्यप्रबन्ध निकलते रहे। शैली आपकी मिश्र जी की शैली से मिलती है। पूर्वी प्रयोग आपसे भी नहीं छूटे। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के विधान पर भी आपका ध्यान रहता था।

भट्ट जी के गद्य का उदाहरण:—

अथवा यह कालरूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महामंत्र है, या अंधकार महाराज के हटाने का अंकुश है, या विरहिणियों के प्राण कतरने की कैंची है, अथवा शृङ्गाररस से पूर्ण पिटारे के खोलने की कुञ्जी है, या तारामौक्तिकों से गुँथे हार के बीच का यह सुमेरु है, अथवा जङ्गम जगत् मात्र को डसने वाले अनंग भुजङ्ग के फन पर का चमकता हुआ मणि है, या निशा-नायिका के चेहरे की मुस्कराहट है, या तारामोतियों की दो सीपियों में से एक सीपी है।

भट्ट जी के निबन्धों में इनके गम्भीर अध्ययन और व्यापक पांडित्य

का परिचय मिलता है; परन्तु व्यापक पण्डित होने पर भी इन्होंने अपनी भाषा को दुरूह तथा जटिल नहीं होने दिया।

बदरीनारायण चौधरी; प्रेमघन

उपर्युक्त दोनों महानुभावों के समान प्रेमघन जी ने भी अपने उमड़ते विचारों को मुद्रित करने के लिए आनंदकादंबिनी नाम की मासिक पत्रिका निकाली थी। शैली आपकी सब से विलक्षण थी। आपके गद्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों को भरपूर स्थान मिलता था और अलंकारों की अच्छी छटा बाँधी जाती थी। आप विचारशील लेखक थे और भारतेंदु जी के उतावलेपन की सदा शिकायत किया करते थे।

कादंबिनी के समाचार भी आलंकारिक भाषा में होते थे। उदाहरण के लिए:—

दिव्य देवी श्री महाराणी बड़हर लाख झँझट झेल और चिरकाल पर्यंत बड़े बड़े, उद्योग और मेल से दु:ख के दिन सकेल, अचल कोर्ट का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दु:खकी रेलपेल और कभी उसी पर सुखकी कुलेल है।

हिन्दी में समालोचनात्मक निबन्धों का सूत्रपात भी प्रेमघन ही ने किया था। इन्होंने बाबू गदाधरसिंह द्वारा अनुवादित बङ्गविजेता और लाला श्रीनिवासदासकृत संयोगितास्वयंवर की विचारपूर्ण आलोचना की थी।

श्रीनिवासदास

आपने तप्तीसंवरण, संयोगितास्वयंवर, रणधीरप्रेममोहिनी ये तीन नाटक और परीक्षागुरु नाम का एक शिक्षाप्रद उपन्यास लिखा था। मनोविनोद तथा व्यंग्योक्तियों में ही अपनी प्रतिभा को व्यय न कर आपने उसे संसार की ऊँच-नीच के परीक्षण में भी प्रवृत्त किया था। आपके गद्य का उदाहरण:—

जीवन ! तू मुझे कृतघ्न मत समझ। मैं कृतज्ञ हूँ। मेरे हृदय में क्रोध की आग धधकती है। मेरे मन में मित्र की प्रीति महकती है। मैं वैरियों को तिनके के बराबर जानता हूँ। मैं जगत् के अपयश को मौत से बढ़कर मानता हूँ। यह लड़ाई का बाजा मेरे मन की उमंग को चौगुना बढ़ाता है।

अंबिकादत्त व्यास

व्यास जी संस्कृत के धुरंधर विद्वान् थे, और आपने संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं की प्रशंसनीय सेवा की है। हिन्दी सेवा के लिए पीयूषप्रवाह नाम का समाचारपत्र निकाला। आपने ललिता और गोसंकट नाम के दो नाटक लिखे और गद्यमीमांसा नाम का गद्यग्रंथ भी लिखा। आर्यसमाज से इन्हें चिढ़ थी; इसलिये इन्होंने सनातनधर्म के समर्थन में अवतारमीमांसा, मूर्ति पूजा आदि पुस्तकें प्रकाशित कीं।

आप लंबे २ वाक्य लिखते थे, फिर भी उनमें शिथिलता नहीं आने देते थे। आपके गद्य का एक उदाहरण :—

जिस लड़के को कुरते में घुंडी तक लगाना नहीं आता और पाखाने से आ हाथ धोना तक नहीं आता, उस लड़के के विशुद्ध दुग्ध के फेन ऐसे कोमल हृदय में यूरोप और अमेरिका की खेती की जाती है। घर से चटनी और घुँघना चाटते हुए स्कूल में पहुँचे कि देखादेखी पेंसिल चाटना तो पहला लेसन सीखा। अब चाहे हिंदू का लड़का मुसलमान के लड़के से पेंसिल ले और चाहे श्रोत्रिय ब्राह्मण का लड़का धोबी के बच्चे से ले। पेंसिल के चाटने के समय कुछ सोचें विचारें, सो क्यों ?।

बाबू बालमुकुंद गुप्त

आपने बंगवासी और भारतमित्र द्वारा हिंदी गद्य की स्तुत्य सेवा की है। इनके लिखे शिवशंभु के चिट्ठे हास्य और व्यंग्य के लिये स्मरणीय

रहेंगे। इनके हास्य और व्यंग्यपूर्ण लेखों में राजनीति की मात्रा अधिक रहती थी।

पंडित तोताराम

भारतेंदु के साथी, अलीगढ़निवासी पंडित तोताराम ने भाषा-संवर्धिनी नाम की एक सभा स्थापित की थी और भारतबंधु नाम का साप्ताहिक पत्र भी निकाला था।

पंडित मोहनलाल पंड्या

प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता पंड्या जी ने गिरती दशा में हरिश्चन्द्रचंद्रिका को सँभाला था। कविराज श्यामलदान जी ने जब अपने पृथ्वीराजचरित्र नामक ग्रंथ में पृथ्वीराजरासो को जाली ठहराया था, तब आपने रासोसंरक्षा लिखकर उसे यथार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया था।

पंडित भीमसेन शर्मा

पहले आप स्वामी दयानंद जी के अनुयायी थे। संवत् १९४० और १९४२ के मध्य आपने धर्मसंबंधी कई पुस्तकें लिखीं और कई संस्कृत ग्रंथों के हिंदी भाष्य भी निकाले। आपने आर्यसिद्धांत नाम का पत्र भी निकाला था। आप फ़ारसी के शब्दों को संस्कृत का रूप देने के पक्षपाती थे और दुश्मन को दुःशमन तथा चश्मा को चक्ष्मा कहते थे।

ठाकुर जगमोहनसिंह

विजयराघवगढ़, मध्यप्रदेश के राजकुमार ठाकुर जगमोहनसिंह संस्कृत और अंग्रेज़ी के अच्छे ज्ञाता, हिन्दी के कवि और चलते गद्यलेखक थे आपको प्रकृति के रूपमाधुर्य की सच्ची परख थी और आपकी रचनाओं

में सच्ची अनुभूति तथा उससे उत्पन्न होने वाला प्रकृति के साथ रागात्मक संबंध विद्यमान रहता था।

आपका गद्य मधुर, सरस तथा साहित्यिक होता था। उदाहरण के लिए :—

ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है, कंकगृध्र नामक पर्वत से निकल अनेक दुर्गम, विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य जल से पावन करती, पूर्व समुद्र में गिरती है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा और सरस्वती

कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतेंदु के उदय के उपरांत हिंदी साहित्य को पद्य और गद्य दोनों क्षेत्रों में अच्छी प्रगति मिली और भारतेंदु की मित्रमंडली ने पत्र-पत्रिकाएँ आदि प्रकाशित कर उसे सर्वांगीण विकास की ओर अग्रसर किया। राजा शिवप्रसाद की कृपा से हिंदी को स्कूलों में स्थान मिल गया था, किंतु राजकर्मचारियों तथा कचहरियों में इसे अब भी प्रवेश न मिल पाया था। इस प्रकार हिंदी, जनता की भाषा होकर भी सरकारी कार्यालयों से बहिष्कृत थी।

हिंदी की इस त्रुटि को दूर करने के लिए, संवत् १९५० में, कई उत्साही छात्रों ने, जिनमें बाबू श्यामसुंदरदास, पंडित रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमारसिंह मुख्य थे, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की। सच पूछिए तो इस सभा को जन्म से लेकर अब तक परिवर्धित करने और लोक कल्याणकारिणी बनाने का श्रेय रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास को है, जिन्होंने इसकी सेवा में एक प्रकार से अपना सर्वस्व ही अर्पण कर दिया।

जन्मते ही सभा नागरी अक्षरों के प्रचार और हिंदी साहित्य की समृद्धि की ओर वेग से अग्रसर हुई। संवत् १९५२ में जब युक्तप्रांत के

गवर्नर सर ऐंटनी (पीछे लार्ड) मेकडानल्ड काशी पधारे, तब सभा ने एक आवेदनपत्र में नागरी के मार्ग में आने वाली कठिनाइयाँ उनके संमुख रक्खीं। संवत् १९५५ में एक प्रभावशाली डेपूटेशन—जिसमें अयोध्यानरेश महाराज प्रतापसिंह जी, माँडा के राजा रामप्रसादसिंह, आवागढ़ के राजा बलवन्तसिंह, डाक्टर सुंदरलाल और पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे मान्य सज्जन संमिलित थे—लाट साहब से मिला और उनसे नागरी के प्रति उनकी सहानुभूति तथा समवेदना का संदेश लेकर लौटा। इन प्रयत्नों का शुभ परिणाम यह हुआ कि संवत् १९५७ में कचहरियों में नागरी के प्रवेश की घोषणा प्रकाशित हो गई।

उक्त कार्य के साथ साथ सभा ने हिंदी के प्राचीन ग्रंथों का अनुसंधान करने और उन्हें छापकर प्रकाशित करने की आयोजना भी की। प्राचीन साहित्यिक खोजसंबंधिनी नागरी प्रचारिणी पत्रिका में बड़े ही मार्मिक और गंभीर लेखों की शृंखला चली। हिंदी में विज्ञानसंबंधी शब्दों की रचना कर सभा ने वैज्ञानिक कोष प्रस्तुत किया और पारितोषिक तथा प्रोत्साहन देकर लोगों में उच्च साहित्य को पढ़ने पढ़ाने की प्रवृत्ति उत्पन्न की। हिन्दीशब्द-सागर जैसे प्रामाणिक तथा वृहत् कोष का संकलन कराकर सभा ने हिंदी की अमूल्य सेवा की है।

अब तक हिंदी गद्य का नवीन प्रवाह 'साहित्य' और 'नागरी अक्षरों का प्रचार' इन दो धाराओं में वेग के साथ बह रहा था; उसके विधायक-गण उसके मार्ग में आने वाली विघ्नबाधाओं को दूर करने में दत्तचित्त थे। इस प्रवाह का रूप कैसा और कितना संयत तथा परिष्कृत है, इस ओर उनका ध्यान न जा पाया था।

संवत् १९५६ में सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन के साथ यह त्रुटि भी दूर हो गई। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे श्रेष्ठ संपादक और व्याकरण-विद् विद्वान् के हाथों में रहकर सरस्वती ने भाषासंस्कार का जो अभूतपूर्व कार्य किया वह उसके नाम को हिंदी साहित्य के इतिहास में अमर कर

देने के लिए पर्याप्त है। भाषा को काट-छाँट कर परिष्कृत करने, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा करने, नवोदित लेखकों को प्रोत्साहित करने और अंग्रेजी की ओर बढ़ते हुए नवयुवकों में हिंदी-प्रेम उत्पन्न करने का महत्त्व-पूर्ण कार्य द्विवेदी जी ने सफलता के साथ संपन्न किया।

इस प्रकार नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना और सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन के उपरांत हिंदी गद्य की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी। विविध विषयों पर, विविध शैलियों में ग्रंथरचना होने लगी और हिंदी सुसंयत होकर अपने सर्वांगीण विकास की ओर अग्रसर हुई। हास्य-विनोद, वाद-विवाद, व्यंग्य, व्याख्यान सभी के उपयुक्त शैलियाँ निकल आईं और धर्म तथा देशप्रेम से प्रेरित हो, अंग्रेज़ी के विद्वानों ने बंगभाषा की छाया में रहते हुए हिंदी की सेवा करनी आरंभ कर दी।

संवत् १९६९में प्रयाग में हिन्दी साहित्य संमेलन की स्थापना हुई, जिसने हिंदी की साहित्य-वृद्धि तथा श्रीवृद्धि में प्रशंसनीय कार्य किया।

महात्मा गांधी द्वारा उठाये गये स्वदेशी आंदोलन ने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने में सहायता दी, जिसके फलस्वरूप अब हिंदी किशोरावस्था में पग रखती हुई विविध प्रकार की मनोहर वृत्तियों में विवृत हो जनता का कंठहार बन रही है।

यह हुआ हिंदी गद्य का सिंहावलोकन। अब हम इस गद्य को नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, निबंध और समालोचना के रूप में विभक्त कर प्रत्येक के ऊपर पृथक् पृथक् विचार करेंगे।

नाटक

यद्यपि संस्कृत में अश्वघोष, भास, कालिदास, भवभूति आदि की रचनाओं के रूप में प्रचुर नाटक-साहित्य विद्यमान था तो भी संस्कृत के पदचिन्हों पर चलने वाली हिंदी में नाटक-साहित्य का सृजन बहुत पीछे हुआ इसका मुख्य कारण तो यह है कि जब हिंदी का प्रसव और विकास हुआ

उन दिनों देश में मुसलमानों का दौरदौरा था, उपद्रवों की भरमार थी, अशांति के समय में रंग खेलना और रंगमच की आयोजना करना कठिन है। मुसलमानी राज्य में शांति का समय भी आया, किंतु इन लोगों की सभ्यता में नाटक के लिये स्थान न था। मुसलमान मूर्तिपूजा के विरोधी थे और इनके यहाँ अनुकरण से संबंध रखने वाली कला का तथा उसके साथ चलने वाले नृत्य और गान आदि का तिरस्कार था। साथ ही हिंदी में गद्य का अभाव सा था। अंग्रेजों के राज्यकाल में नाटकीय कला पारसियों के हाथ में रही; फलत: उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक हमें हिंदी में यथार्थ नाटक के दर्शन न हो पाए।

यों तो संवत् १४६० में विद्यापति ने पारिजातहरण और रुक्मिणी परिणय, संवत् १६४३ में उत्पन्न हुए बनारसीदास जैन ने समयसार, संवत् १६६७ के लगभग हुए प्राणचन्द चौहान ने रामायण महानाटक, संवत् १६८० के लगभग हुए हृदयराम ने हनुमन्नाटक, सत्रहवीं सदी में देवकवि ने देवमाया प्रपंच, संवत् १६८३ में उत्पन्न हुए महाराज यशवंतसिंह ने प्रबोधचंद्रोदय (अनुवाद), संवत् १७३७ में नेवाज ने शकुन्तला और उन्नीसवीं सदी में पंडित लल्लूजीलाल के वंश में उत्पन्न हुए पं० हरीराम ने जानकीरामचरित नाम के नाटक रचे, किंतु ये सब या तो संस्कृत नाटकों के अनुवाद मात्र थे और या नाटक के परिधान में काव्यमात्र थे।

नाटकों के नियमों को दृष्टि में रखकर सब से पहला नाटक हिंदी में भारतेंदु के पिता बाबू गिरिधरदास ने नहुष नाम का लिखा, जिसमें उन्होंने इंद्र और नहुष की कथा का अभिनय की दृष्टि से वर्णन किया। इसके उपरांत राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुंतला का हिंदी में अनुवाद किया, जो कला और साहित्य की दृष्टि से भव्य संपन्न हुआ।

किंतु हिंदी में यथार्थ नाटक-रचना का सूत्रपात भारतेंदु जी के उदय के साथ ही हुआ, जिन्होंने सोलह के लगभग नाटक और प्रहसन लिख कर हिंदीभाषियों को नाटक-रचना की ओर आकृष्ट किया। उनकी देखा-देखी बाबू तोताराम ने केटोकृतांत, लाला श्रीनिवासदास ने तपतीसंवरण और रणधीरप्रेममोहनी, बाबू केशोराम भट्ट ने सज्जाद संबुल, गदाधर भट्ट ने मृच्छकटिक, बदरीनारायण चौधरी ने वीरांगनारहस्य, अंबिकादत्त व्यास ने ललिता, वेणीसंहार और गोसंकट, और बाबू राधाकृष्णदास ने दुःखिनी बाला, पद्मावती, और महाराणा प्रताप नाम के नाटक लिखे।

इन नाटकों में क्रमशः देवता, राक्षस, यक्ष गंधर्वादि दैवी पात्रों के स्थान में मानवी पात्रों का प्रवेश हुआ और पद्य की जगह गद्य का प्रयोग किया गया। नाटकों में पद्य को हटाकर गद्य की प्रतिष्ठा करने में बाबू द्विजेंद्रलाल राय के बंगला नाटकों ने अच्छा काम किया। इन नाटकों का हिंदी अनुवाद पंडित रूपनारायण पांडेय ने अच्छा किया।

इसी बीच लाला सीताराम ने बहुत से संस्कृत नाटकों का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया। पंडित सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूतिकृत उत्तर-रामचरित और मालतीमाधव का सुन्दर अनुवाद किया है।

आधुनिक नाटककारों में बाबू जयशंकरप्रसाद ने अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, विशाख, कामना आदि सुन्दर नाटक लिखे हैं, जिनमें उनकी भव्य प्रतिभा और सूक्ष्म गवेषणाशक्ति का अच्छा चमत्कार मिला है। जिस प्रकार द्विजेंद्र बाबू ने अपनी कृति में मुगलकालीन भारत का चित्रण किया है, उसी प्रकार प्रसाद जी ने अपनी रचना का विषय बौद्धकालिक भारत को बनाया है। आपके नाटकों में मनोवैज्ञानिकता और अंतर्द्वंद्व पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। किंतु कला की दृष्टि से अच्छे होने पर भी इनके नाटक दुरूह होने के कारण रंगमंच पर नहीं खेले जा सकते।

प्रसाद के अतिरिक्त पंडित बदरीनाथ भट्ट, पंडित माखनलाल चतुर्वेदी, श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद तथा सेठ गोविन्ददास ने अच्छे नाटक लिखे हैं। सेठजी के नाटकों में कर्तव्य, दर्प, प्रकाश, स्पर्धा, सेवापथ, विकास, कुलीनता और शशिगुप्त उल्लेखनीय हैं। अलमोड़ा जिला निवासी पंडित गोविंदवल्लभ पंत ने वरमाला, राजमुकुट, अंगूर की बेटी और अंतःपुरका छिद्र नाम के भद्र नाटक लिखे। पंतजी की वनमाला अनोखी रचना है। पौराणिक आधार पर लिखी गई प्रेम की यह कहानी पंतजी की कवित्व शक्ति से चमक उठी है और नाटक के उपयुक्त बन गई है। जी० पी० श्रीवास्तव के नाटक चटकीले होने पर भी नवयुवकों में कुरुचि उत्पन्न करने वाले हैं।

१९६० में जिला आजमगढ़ में उत्पन्न हुए पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अशोक, सन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, सिंदूर की होली नाम के नाटक लिखे जिनमें वर्तमान समाज का सुन्दर खाका खींचा गया है।

संवत् १९६४ में ग्वालियर में उत्पन्न हुए हरिकृष्ण प्रेमी ने पंजाब में रहकर स्वप्नभंग, आहुति, रक्षाबन्धन, शिवा साधना, प्रतिशोध, बन्धन तथा मंदिर नाम के अच्छे नाटक लिखे।

पंडित उदयशंकर भट्ट के रचे विक्रमादित्य, दाहर, अंबा, सगर विजय, अंतहीन अंत, विश्वामित्र, कमला और राधा नाटकीय दृष्टि से अच्छे बने हैं और इन सब में भट्टजी के संघर्षमय जीवन की छाप स्पष्ट है।

इन लोगों के अतिरिक्त राय देवीप्रसाद पूर्ण ने संवत् १९६० में चन्द्रकला भानुकुमार, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने मधुरमिलन तथा तुलसी दास, मिश्रबन्धुओं ने नेत्रोन्मीलन, पूर्व भारत, उत्तर भारत तथा शिवाजी, मैथिलीशरण गुप्त ने चन्द्रहास, माखनलाल चतुर्वेदी ने कृष्णार्जुन युद्ध, रामनरेश त्रिपाठी ने सुभद्रा, जयंत, प्रेमलोक, पेखन तथा वफ़ाती चाचा, प्रेमचंद ने संग्राम कर्बला, और प्रेम की वेदी, सुदर्शन ने दयानंद, अंजना,

आनरेरी मजिस्ट्रेट और भाग्यचक्र, चतुरसेन शास्त्री ने अमर राठौर, उत्सर्ग, सीताराम और श्रीराम, बेचन शर्मा उग्र ने ईसा, चार बेचारे, डिक्टेटर, गंगा का बेटा, उपेंद्रनाथ ने जय पराजय, स्वर्ग की झलक, पृथ्वीनाथ शर्मा ने दुविधा, अपराधी और शराबी, और सुमित्रानन्दन पंत ने ज्योत्स्ना नामक नाटक लिखे हैं।

हाल ही में पंजाब विश्वविद्यालय के आचार्य डा० सूर्यकान्त ने त्रेता की झाँकी नाम का उत्कृष्ट नाटक लिखा है जिसमें वसिष्ठ विश्वामित्र के युद्ध पर प्रकाश डालते हुए तात्कालिक भारत का सुन्दर चित्र खींचा गया है।

विभिन्न भाषाओं के नाटकों का हिंदी में अनुवाद करने वालों में श्री सीताराम भूप (जन्म संवत् १६१५ अयोध्या), रूपनारायण पांडेय (१६४१ लखनऊ) सत्यनारायण कविरत्न (१६४१ आगरा) बाबू रामचन्द्र वर्मा (१६४६ काशी) जी. पी. श्रीवास्तव (१६४८ गोंडा) डा० लक्ष्मण-स्वरूप (लाहौर), डा. मंगलदेव शास्त्री (बनारस), डा. सूर्यकान्त (लाहौर) और बलदेव शास्त्री (लाहौर) और कैलाशनाथ (लाहौर) ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

एकांकी नाटक लिखने में डा. रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविंददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भुवनेश्वर, सुदर्शन, शंभुदयाल सक्सेना, गणेशप्रसाद द्विवेदी और भगवती चरण वर्मा आदि ने अच्छा नाम कमाया है।

इतनी बड़ी मात्रा में नाटक लिखे जाने पर भी हिंदी के रङ्गमंच में जो न्यूनताएं हरिश्चंद्र के समय में थीं, वे अब भी वैसी ही विद्यमान हैं। हिंदीभाषियों का शिष्ट समाज अब भी रंगमंच को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, जिसका परिणाम यह है कि रङ्गसंबंधी सारे आयोजन उर्दू भाषाभाषी पारसी कंपनियों के हाथ में हैं। जो सज्जन हिंदी में नाटक लिखते हैं, उन्हें नाटकीय कला का परिज्ञान नहीं होता और अध्यायों तथा

परिच्छेदों के स्थान में अङ्क, इत्यादि नाम रखकर गद्य-पद्य की मिली खिचड़ी में वे जो कुछ भी हिंदी जगत् के संमुख प्रस्तुत कर देते हैं, वही नाटक के नाम से चल पड़ता है।

वास्तव में हिंदी जगत् को वर्तमान नाटक-लेखकों के बजाय ऐसे नाटककारों की आवश्यकता है जो समाज के सूक्ष्म निरीक्षक हों, मनोविज्ञान के चितेरे हों, अभिनय और संगीत के पारखी हों, भाषा पर जिनका आधिपत्य हो और जो गद्यपद्यमय संदर्भों में गंभीरता लाकर उन्हें जनता के संमुख प्रस्तुत कर सकते हों।

उपन्यास

लाला श्री निवासदासकृत परीक्षागुरु के उपरांत हिंदी के उपन्यासों में बाबू देवकीनंदन खत्री की चंद्रकांतासंतति का नंबर है, जिसने लाखों निरक्षरों और उर्दू पढ़ों को हिंदी का प्रेमी बनाया। यद्यपि खत्री जी की कृति में घटनावैचित्र्य के अतिरिक्त और कोई भी साहित्यिक तत्त्व नहीं है, तथापि हिंदी जगत् में उसका एक निजी महत्त्व है। इनके अनंतर गहमरी जी के जासूसी उपन्यासों की धूम मची। इनके उपरांत पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने पचासों मौलिक उपन्यास लिखे, जो साहित्यिक रचना होने पर भी भाषा की दृष्टि से असफल रहे। उनके उपन्यास अधिकांश घटना-विशिष्ट हैं; उनमें पात्रों के चरित्रविकास की ओर कम ध्यान दिया गया है। कहीं कहीं आपका सौंदर्यवर्णन अश्लील तथा कुप्रभावोत्पादक भी हो गया है। इसके पश्चात् हरिऔधजी ने ठेठ हिन्दी का ठाठ और अधखिला फूल नाम के दो मौलिक उपन्यास लिखे; किंतु ये दोनों भाषा का नमूना दिखाने के लिए लिखे गये थे, न कि उपन्यासकला की अभिवृद्धि के लिए। मेहता लज्जाराम के धूर्त रसिकलाल, आदर्श दंपति, आदर्श हिंदू आदि छोटे छोटे उपन्यासों में भी कला का विकास नहीं होने पाया। हाँ, बाबू व्रजनंदनसहाय की लालचीन, सौंदर्योपासक तथा राधाकांत नामक कृतियों में अवश्यमेव उपन्यास का भावप्रधान शुद्ध साहित्यिक रूप संपन्न हुआ है।

हिंदी उपन्यासक्षेत्र में युगान्तर उपस्थित करने वाले थे श्री प्रेमचंद, जिन्होंने चरित्रचित्रण को लक्ष्य बनाते हुए अपने पात्रों को सजीव तथा व्यक्तित्वपूर्ण खड़ा किया और हिंदी में सेवासदन, वरदान, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रतीज्ञा, गबन और कर्मभूमि जैसे सजीव उपन्यासों की शृंखला बाँधकर उसे इस क्षेत्र का धनी बना दिया।

कहना न होगा कि प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प और कर्मभूमि में प्रेमचंद उपन्याससम्राट् के रूप में हमारे संमुख आते हैं। अब वे किसी जाति, श्रेणी या देशविशेष के प्रतिनिधि नहीं, अपितु विश्व भर की अखिल चेष्टाओं के चितेरे बन विश्वजनीन कलाकार बन गये हैं।

प्रेमचंद के भावुक हृदय में देहाती समाज के प्रति समवेदना थी और उन्होंने उनके सुख-दुःख और रहन-सहन का चित्र खींचा भी अनोखा है। सामाजिक विषमता और भेदभाव को छाँटने की अभिलाषा उनमें अंत तक बनी रही। अपने इस उद्देश्य को उन्होंने व्यंग्य अथवा तानों से नहीं, अपितु मीठी चुटकियों द्वारा बड़ी भव्यता से संपादित किया है। मानसिक उत्थान और पतन का वर्णन भी आपका अनूठा होता था। देश की वर्तमान दशा और उसकी आवश्यकताओं पर ध्यान देते हुए आपने अपनी रचनाओं में आदर्शवाद को प्रधानता दी है।

कंकाल और तितली नामक उपन्यास लिखकर जयशंकरप्रसाद ने इस क्षेत्र में अच्छी ख्याति प्राप्त की है। कंकाल में चरित्रचित्रण अच्छा संपन्न हुआ है। मंगलदेव और यमुना के चित्र सजीव बन पड़े हैं। पढ़ते पढ़ते एक के प्रति घृणा और दूसरी के प्रति समवेदना बढ़ती चली जाती है। आपके उपन्यासों में घटना की अपेक्षा भावों की प्रधानता है।

इनके अतिरिक्त विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक ने भिखारिणी और माँ, वृंदावनलाल ने गढ़कुंडार, चंडीप्रसाद हृदयेश ने मंगलप्रभात और मनोरमा, चतुरसेन शास्त्री ने हृदय की प्यास, हृदय की परख और अमर अभिलाषा, और जैनेंद्रकुमार ने तपोभूमि, परख तथा सुनीता

लिखकर उपन्यासक्षेत्र में अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

आख्यायिका

बीसवीं शताब्दी के साथ, अङ्गरेजी की छोटी २ कहानियों की शैली पर, हिंदी में आख्यायिका लिखने की प्रथा चली, जिनमें ऐतिहासिक तथा सामाजिक घटनाओं का अच्छा चित्रण हुआ। हिंदी में आख्यायिकाओं का सूत्रपात करने वाले बाबू गिरिजाकुमार घोष थे। सरस्वती और काशी से निकलने वाले इंदु द्वारा प्रोत्साहित हो लाला पार्वतीनंदन, श्रीमती बंगमहिला, पंडित किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने अच्छी कहानियाँ लिखीं। प्रसाद जी की ग्राम नाम की पहली कहानी और विश्वंभरनाथ जिज्जा की प्रसिद्ध परदेसी नामक आख्यायिका पहले-पहल इंदु में ही छपी थीं।

शनैः शनैः प्रसाद, जिज्जा जी, राजा राधिकारमणसिंह, पंडित विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पंडित ज्वालादत्त शर्मा तथा श्री चतुरसेन शास्त्री जैसे भव्य लेखकों की कृतियाँ अभिनव आशा और अपूर्व उल्लास के साथ हिंदी क्षेत्र में उतरीं। इनमें से कुछ का वर्णन नीचे किया जायगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार अपनी चलती तथा व्यापक रचनाओं के द्वारा प्रेमचंद उपन्यास-साम्राज्य के सम्राट् कहाये, उसी प्रकार वे अपनी चलती, चुटीली कहानियों के बल पर आख्यायिकाओं के भी अधीश्वर बन गये। उनकी कहानियों के अनेक संग्रह अनेक बार प्रकाशित हो चुके हैं। किंतु ये कहानियाँ जितनी बार पढ़ी जायँ, नवीन प्रतीत होती हैं। इनका विलक्षण रस प्रतिपर्व अधिकाधिक मीठा होता चला जाता है। दिल की रानी, सुजान भगत, गुल्लीडंडा, ईदगाह, दो बैलों की कथा, पंच परमेश्वर को कितनी ही बार पढ़ो, मन नहीं उचटता।

प्रसाद जी की कहानियाँ आकाशदीप तथा इंद्रजाल में प्रकाशित हुई हैं। इनकी कहानियों में भी कवित्व की छटा रहती है। अपनी कुछ

कहानियों में इन्होंने प्राचीन इतिहास की विस्मृत लड़ियों को फिर से संघटित किया है, कुछ में मनोविज्ञान की पहेलियाँ सुलझाई हैं और कुछ में व्यक्तियों का व्यक्तित्व आभासित किया है। जहाँ प्रेमचन्द की कहानियों में घटनाओं को प्राधान्य मिला है, वहाँ प्रसाद जी की रचनाओं में भाव को उच्च पद दिया गया है।

विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक; जन्म सं० १९४८

आपकी कहानियाँ भक्तिमाला और चित्रशाला में संगृहीत हैं। आपकी रचनाओं में पारिवारिक जीवन का मर्मस्पर्शी चित्रण रहता है और इस विषय के आप अद्वितीय कलाकार हैं।

सुदर्शन; जन्म सं० १९७०

आपकी 'हार में जीत' आदि कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। आप अपने पात्र साधारण समाज में से चुनते हैं। कुछ कहानियाँ राजनीतिक घटनाओं के आधार पर भी खड़ी की गई हैं। आपने पाश्चात्य कथा-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है। भारतीय आदर्शों की रक्षा करने की चेष्टा आपकी प्रशंसनीय है।

चंडीप्रसाद हृदयेश; सं० १९५६–१९८४

नन्दननिकुंज और वनमाला नाम के दो संग्रहों में आपकी कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। आपकी कहानियाँ कवित्व के भार में दब गई हैं। भाषा की सजावट के पीछे आप पात्रों के व्यक्तित्व को खो बैठे हैं।

पांडेय बेचन शर्मा उग्र; जन्म सं० १९५८

आपकी चटपटी कहानियां दोज़ख़ की आग और इंद्रधनुष नामक संग्रहों में एकत्रित हैं। आपने समाज की कुप्रवृत्तियों का नग्न चित्र खींचा है। कहीं २ इनके चित्र अश्लील हो गये हैं। इनकी भाषा चटपटी, चलती और मुहावरेदार होती है। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी इनकी रचनाओं

को घासलेटी साहित्य के नाम से पुकारते थे।

चतुरसेन शास्त्री; जन्म सं० १९४८

अन्तस्तल आपकी मार्मिक रचना है। अक्षत और रजकण में आपकी कहानियाँ संगृहीत हैं। अक्षत की भितुराज कहानी भव्य सम्पन्न हुई है। आपकी भाषा चलती तथा भावपूर्ण होती है। आपके वर्णन रुचिकर होते हैं। कहीं कहीं उनमें अश्लीलता दोष आ गया है।

जैनेन्द्रकुमार

आपकी कहानियाँ वातायन में संग्रहीत हैं। आपकी कथाओं में भावुकता और करुणा की मात्रा अधिक रहती है और वे कुछ आंतरिक तथ्य की ओर झुकती प्रतीत होती हैं। आपकी भाषा में दिल्ली के स्थानीय मुहावरों और उर्दू शब्दों का खासा मेल है।

उक्त महानुभावों की रचनाओं में दीख पड़ने वाली विषयविविधता, चरित्रचित्रण, भावाभिव्यक्ति तथा भाषा और कला के परिष्कार को देखते हुए हिंदी साहित्य का भविष्य उज्ज्वल दीख पड़ता है।

निबन्ध

हिंदी में अब तक उत्कृष्ट निबन्धों का अभाव सा है। समालोचनात्मक निबंधों के अतिरिक्त अन्य सभी निबंध साधारण कोटि के हैं। पंडित बालकृष्ण भट्ट और पंडित प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों में विनोद, हास्य और व्यंग्य की मात्रा पर्याप्त होने पर भी वे साहित्य की स्थायी संपत्ति नहीं कहे जा सकते।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के मौलिक लेखों का संग्रहर सज्ञरंजन नाम से मिलता है। आपके लेख विचारात्मक श्रेणी के हैं। कहीं कहीं आपके विचारों की योजना असंयत हो गई है।

भावात्मक निबंध लिखने वालों में अध्यापक पूर्णसिंह का स्थान महत्त्व का है। इनके गद्य में पद्य की सी भावुकता रहती है। इनकी भाषा में सभी प्रकार के शब्दों का समावेश है। आप कला के पीछे भावों को नहीं भूलते।

प्रोफेसर गुलाबराय और श्रीयुत कन्नोमल ने दार्शनिक निबंध लिखने में अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

पंडित पद्मसिंह शर्मा के निबंधों का संग्रह पद्मपराग के नाम से निकल चुका है। आपकी भाषा में उर्दू-फ़ारसी के शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। व्यंग्य के चुटकले भी आपके मार्के के होते हैं।

पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने जयपुर से समालोचक नाम का पत्र निकालकर उसमें अत्यन्त मार्मिक तथा अनूठे साहित्यिक निबंधों की श्रृंखला बाँधी थी। आपकी चमत्कारिणी प्रतिभा ने व्याकरण जैसे नीरस विषयों को सरस बना दिया था।

पंडित गोविन्दराम मिश्र तथा पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने भी इस क्षेत्र में अच्छा काम किया है। मिश्र जी की भाषा पंडिताऊ होती थी, और आप सामान्य विषयों को भी उच्च कोटि की भाषा में रखना पसंद करते थे। चतुर्वेदी जी अपनी हास्यरसात्मकता के लिए प्रख्यात हैं।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल के लेख गंभीर तथा विचारपूर्ण होते हैं। आपके कतिपय लेख विचारवीथी में संग्रहीत हैं। आपकी प्रतिभा ने प्रेम, घृणा, कविता आदि विषयों का सुन्दर विश्लेषण किया है। भाषा आपकी परिपक्व तथा अत्यन्त परिष्कृत है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का अच्छा विधान है। आपकी रचनाओं के अंतस्तल में हास्य की एक मनोहर रेखा छिपी रहती है। आपकी विचारधारा सुसंयत तथा तर्कपूर्ण रहती है।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने लेखों में समालोचना का अत्यन्त परिष्कृत रूप उपस्थित किया है। इनकी विचारधारा गम्भीर, सुसंयत तथा

तर्कानुकूल वहता है। आपकी शैली परिमार्जित है और उसमें तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्द उचित रूप से व्यवहृत हुए हैं। आपकी रचनाओं में शब्दों का आटोप नहीं और कला का अनपेक्षित चमत्कार नहीं। बड़े ही नपे-तुले शब्दों में उपमा और रूपकों के द्वारा आप गंभीर तत्त्वों की व्याख्या कर जाते हैं।

निबंधसाहित्य भी क्रमशः उन्नति कर रहा है। यद्यपि पुस्तकों के रूप में उत्कृष्ट निबंध कम निकले हैं, तथापि सरस्वती, माधुरी, विशाल भारत, विश्वामित्र, सुधा, चाँद आदि में कभी कभी अच्छे निबंध निकल जाते हैं।

निबन्ध गद्य का आधार है। इसकी उन्नति में हिंदी लेखकों को अग्रसर होना चाहिये।

समालोचना

हिंदी में वर्तमान ढंग की समालोचना का सूत्रपात भी हरिश्चन्द्र युग से हुआ है। पंडित बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने अपनी आनंद-कादंबिनी नामक पत्रिका में लाला श्रीनिवासदास कृत संयोगितास्वयंवर की विचारपूर्ण आलोचना लिखी थी। उसके पश्चात् पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती में समालोचनात्मक लेखों की अच्छी शृंखला चलाई। आपकी इस विषय की रचनाओं में कालिदास की निरंकुशता, विक्रमांक-देवचरितचर्चा और नैषधचरित-चर्चा उल्लेखयोग्य हैं।

द्विवेदी जी के समकालिक समालोचकों में मिश्रबन्धुओं का स्थान महत्व का है। उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास अपने ढंग की पहली रचना थी। हिन्दी नवरत्न में कवियों की अच्छी समालोचना की गई है।

मिश्रबंधुओं के पश्चात् इस विषय में पंडित पद्मसिंह शर्मा और पंडित कृष्णविहारी मिश्र के नाम उल्लेखयोग्य हैं। शर्माजी ने बिहारीसतसई की भूमिका नामक ग्रंथमें बिहारी की तुलनात्मक समालोचना प्रस्तुत की। इस रचना में आपने बिहारी की, उनसे पहले तथा पिछले कवियों के साथ तुलना

करके बिहारी को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया। यद्यपि समालोचना के आधुनिक आदर्श पर ध्यान रखते हुए शर्मा जी की कृति को उत्कृष्ट समालोचना कहना अनुपयुक्त होगा, तथापि उनकी कृति ने अपनी नवीनता तथा व्यंग्यात्मकता के कारण उस समय के हिंदी जगत् पर अच्छा सिक्का जमाया।

इस वाद-विवाद की शृंखलता में पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी नाम की भव्य समालोचना प्रस्तुत की, जिसमें देव को बिहारी से अधिक व्यापक और सुसंयत कवि बताते हुए भी आपने बिहारी की स्थान स्थान पर मुक्तकंठ से प्रशंसा की। मतिरामग्रंथावली की भूमिका में भी आपने अपने व्यापक पांडित्य का अच्छा परिचय दिया है।

पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने बिहारी की वाग्विभूति नामक ग्रंथ में बिहारी की भाषा, उनकी भावव्यंजना और कला आदि पर अच्छा प्रकाश डाला है। आपकी देखरेख में भूषणग्रंथावली भी उत्कृष्ट संपन्न हुई है। पंडित कृष्णशंकर शुक्ल ने कविवर रत्नाकर नामक पुस्तक में रत्नाकर की अभिव्यंजनशैली, विभावचित्रण, भावव्यंजना, भक्तिभावना, अलंकार, भाषा आदि पर अच्छा लिखा है। केशव की काव्यकला में आपने कवि की भावव्यंजना, बाह्यदृश्यचित्रण, प्रबंधकल्पना, चरित्रचित्रण, संवाद, अलंकार, भाषा, आध्यात्मिक सिद्धांत और उसके आचार्यत्व तथा पांडित्य का विवेचन करते हुए कुछ थोड़ा सा उसके साथ अन्याय भी कर दिया है। पंडित भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र ने मीरा की प्रेमसाधना में मीरा की प्रेमचिनगारी, उसके रूपराग, लीलाविहार, प्रफुल्ल प्रेम, विरहवेदना, रहस्योन्मुख भावना आदि पर चोखा लिखा है। गंगाप्रसादसिंह की पद्माकर की काव्यसाधना और गिरीश की गुप्त जी की काव्यधारा भी समालोचना की दृष्टि से चोखे बन पड़े हैं। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का हिंदी साहित्यविमर्श, रामकुमार वर्मा का कबीर का रहस्यवाद तथा जनार्दनप्रसाद झा द्विज की प्रेमचंद की उपन्यासकला भी अपने ढंग के अच्छे ग्रंथ हैं।

किंतु हिंदी साहित्य में समालोचना के उन्नत आदर्श को स्थापित करने का श्रेय बाबू श्यामसुंदरदास तथा पंडित रामचंद्र शुक्ल को है। बाबू जी ने पंडित रामचंद्र के साथ मिल हिंदीशब्दसागर की विद्वत्तापूर्ण विशाल भूमिका लिखने के उपरांत साहित्यालोचन, तुलसीदास तथा हिंदी भाषा और साहित्य आदि ग्रंथ लिखकर आलोचनकला को बहुत ही भव्य, गंभीर तथा व्यापक रूप दिया है। शुक्ल जी ने जायसी, तुलसी, सूर आदि कवियों पर विशद विश्लेषणात्मक आलोचनाएं लिखकर हिंदी की अनमोल सेवा की है। काव्य में रहस्यवाद के अतिरिक्त आपने और भी अनेक आलोचनात्मक निबंध लिखे हैं, जिनसे इस श्रेणी के साहित्य को अच्छी प्रगति मिली।

हिंदी में तुलनात्मक आलोचना की दृष्टि से सूर्यकान्त का हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास उत्तम बना है। इसमें लेखक ने कबीर, सूर तुलसी तथा विहारी की सुन्दर आलोचना की है और तुलसी को पहली बार विश्वकवियों का मूर्धन्य ठहराया है।

हिंदी को विश्वविद्यालयों की उच्च श्रेणियों में स्थान मिलने के साथ साथ इसके कतिपय इतिहास भी लिखे गये, जिनमें पंडित रामचंद्र शुक्ल का हिंदी साहित्य का इतिहास और बाबू श्यामसुंदरदास का हिंदी भाषा और साहित्य मुख्य हैं। जहां शुक्ल जी ने अपने साहित्य में हिंदी के नवीन छायावादी कवियों को स्थान न दे उनकी उपेक्षा सी की है, वहां बाबू जी ने अपनी अत्यंत उत्कृष्ट रचना में इन कवियों का समावेश करके अपनी सारग्राहिणी प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

उक्त दोनों इतिहासों से एक वर्ष पूर्व लाहौर से डा० सूर्यकांत ने हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास निकाला जिसका आलोचनात्मक दृष्टि से हिंदी में समादर हुआ।

कवियों की जीवनियों के विषय में शिवसिंह सेंगर के शिवसिंहसरोज (ई० १८८३) ने ग्रियर्सन के मौडर्न वर्नाक्युलर लिटेरचर ऑफ

आफ़ नार्दर्न हिंदुस्तान (सं० १८८६), मिश्रबंधुओं के मिश्रबंधुविनोद (सं० १६१३) श्यामसुंदरदास की हिंदीकोविदरत्नमाला, और पंडित रामनरेश त्रिपाठी की कविताकौमुदी आदि ने अच्छा काम किया था। इनके आधार पर सन् १६३० से हिंदी साहित्य के इतिहासों की अच्छी श्रृंखला बँधी, जिनमें कृष्णशंकर शुक्ल का आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, जगन्नाथप्रसाद का हिंदी गद्यशैली का विकास, ब्रजरत्नदास का हिंदी साहित्य का इतिहास, यदुनंदन मिश्र का हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, नंददुलारे वाजपेयी का हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, मिश्रबंधुओं का हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, द्विवेदी का हिंदी भाषा के कवि और काव्य, प्रोफेसर गुलाबराय का हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास, तथा पंडित रामकुमार वर्मा का हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास विशेषरूप से उल्लेखयोग्य हैं।

हर्ष की बात है कि हिंदी साहित्य की उन्नति के साथ साथ हिंदी भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति भी विद्वानों में उत्पन्न हो गई है। इस विषय में बाबू श्यामसुन्दरदास, डा० धीरेंद्र वर्मा, बाबूराम सकसेना, मंगलदेव शास्त्री तथा बाबू नलिनीमोहन सान्याल ने अच्छा काम किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान युग में हिंदी की सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है और उसका भविष्य अत्यंत ही भव्य तथा उज्ज्वल संपन्न होता दिखाई देता है। किंतु यह सब कुछ होते हुए भी हमें अभी बहुत कुछ करना है। अभी हमने अपनी रचनाओं को प्रामाणिक बनाने के लिए उनका वैज्ञानिक परीक्षण आरंभ नहीं किया। अभी तक हिंदी के विद्वान् तुलसीदास के रामचरितमानस तथा सूरदास के सूरसागर का प्रामाणिक संस्करण नहीं प्रस्तुत कर पाये हैं। चंद के रासो को जाली समझ उन्होंने उसे अछूता रख छोड़ा है। ब्रजभाषासाहित्य में बिहारी की सतसई को छोड़कर अन्य किसी भी ग्रंथ का संपादन पूर्ण परिश्रम के साथ अब तक नहीं हो पाया है। पद्मावती के पच्चीस सर्गों का वैज्ञानिक संस्करण सर

जार्ज ग्रियर्सन ने संपादित किया था, हम उसे भी अब तक पूरा नहीं कर पाये हैं। हिंदी के वर्तमान लेखक अपनी कृतियों को परंपरागत कल्पनाओं तथा नवोदित लाक्षणिकता से विभूषित करना चाहते हैं, किंतु इन रचनाओं को भाषा विज्ञान की दृष्टि से परिमार्जित तथा सुसंघटित बनाने की प्रवृत्ति उनमें अभी तक उत्पन्न नहीं हो पाई।

जहाँ रामायण तथा सूरसागर जैसी अमर कृतियों का संपादन ही प्रामाणिक पद्धति से न हो पाया हो, वहाँ इन ग्रंथों की शब्दसूचियाँ तैयार करके उस उसकाल की भाषा का तुलनात्मक विवेचन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न ही कैसे हो सकती है।

विश्वविद्यालय की उच्च श्रेणियों में हिन्दी के पठन-पाठन को वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक रूप देने के लिए उसका वैज्ञानिक विश्लेषण अत्यंत आवश्यक है। आशा है, हिन्दी के विद्वान् इस ओर भी उत्साह के साथ अग्रसर होंगे।



